मूल्य	पाँच रुपये
प्रथम संस्करण	सितम्बर, १९५९
प्रकाशक	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक	युगान्तर प्रेस, दिल्ली

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक तुलसीदास पर लिखे गए आलोचनात्मक निबन्धों का चयन मात्र है। इस संकलन में दो अप्रकाशित निबन्ध संगृहीत हैं जो विशेष रूप से लिखवाए गए हैं। डॉ 'कमलेश' ने तुलसी-साहित्य के आधार पर उनकी जीवनी पर आलोक डालने का प्रयास किया है और श्री मोहन राकेश ने तुलसी-सम्बन्धी प्रचलित धारणाओं का मूल्यांकन किया है। रूसी के हिन्दी विशेषज्ञ प्रो बारान्निकोव का तुलसी के दार्शनिक विचारों पर निबन्ध जिसका हिन्दी रूपांतर डॉ केसरीनारायण ने किया है एक नवीन दृष्टिकोण का परिचायक है। इस प्रकार तुलसी-सम्बन्धी आलोचनात्मक साहित्य को, जो पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है, इस पुस्तक में एकत्र किया गया है।

—इन्द्रनाथ मदान

मूल्य — पाँच रुपये
प्रथम संस्करण — सितम्बर १९५९
प्रकाशक — राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली
मुद्रक — युगान्तर प्रेस दिल्ली

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक तुलसीदास पर लिखे गए आलोचनात्मक निबन्धों का संकलन मात्र है। इस संकलन में दो अप्रकाशित निबन्ध संगृहीत हैं जो विशेष रूप से लिखवाए गए हैं। डॉ 'कमलेश' ने तुलसी-साहित्य के आधार पर उनकी जीवनी पर आलोक डालने का प्रयास किया है और श्री मोहन राकेश ने तुलसी-सम्बन्धी प्रचलित धारणाओं का मूल्यांकन किया है। रूसी के हिन्दी विशेषज्ञ प्रो बारान्निकोव का तुलसी के दार्शनिक विचारों पर निबन्ध जिसका हिन्दी रूपांतर डॉ केसरीनारायण ने किया है एक नवीन दृष्टिकोण का परिचायक है। इस प्रकार तुलसी-सम्बन्धी आलोचनात्मक साहित्य को जो पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है इस पुस्तक में एकत्र किया गया है।

—इन्द्रनाथ मदान

निबन्ध-सूची

१

तुलसीदास : एक सर्वेक्षण

पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी का समय, जिसे हमारे साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल कहा जाता है, साहित्य की दृष्टि से भले ही स्वर्णयुग हो, लेकिन राजनीतिक और धार्मिक दृष्टि से पूर्ण पराजय का काल था। शक्ति के अभाव में एक विदेशी जाति की सभ्यता और संस्कृति के प्रति हिन्दुओं के आत्मसमर्पण का परिणाम यह हुआ था कि हिन्दू-धर्म, हिन्दू-जाति, हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू-सभ्यता की रक्षा का कोई साधन शेष नहीं था। लोगों में इतना साहस नहीं था कि वे संगठित होकर खड़े हों और धर्म के ऊपर होते हुए कुठाराघात का सामना करें। भक्ति-काल में शांति के प्रयत्न शासकों की ओर से अवश्य किए जा रहे थे, परन्तु वे प्रयत्न पराजित हिन्दू जाति को सान्त्वना और आश्वासन देने में असमर्थ थे। हिन्दू त्रस्त हुए थे, अतः जो भी प्रयत्न शासकों की ओर से उनकी तुष्टि के लिए किए जाते थे वे ही उन्हें आशंका और भय उत्पन्न करने वाले प्रतीत हों, यह स्वाभाविक ही था। फिर एक देश-विहित धर्म को अपदस्थ कर यह नई जाति शासक बनी थी और अपने धर्म की जड़ें अधिकाधिक गहरी करती जाती थी। इससे हिन्दुओं में और भी घृणा का भाव था, जो भीतर ही भीतर सीली लकड़ी की तरह सुलग रहा था। उस समय देश में श्मशान की शांति व्याप्त थी। ऐसे निस्तब्ध और भयानक वातावरण में जन-साधारण के हृदय-कमल मुरझाए हुए थे। यह स्थिति दोनों ही जातियों के लिए हानिकर थी। अतएव कुछ सन्त-महात्माओं ने इसका

अनुभव किया कि सब समझौते का मार्ग ही श्रेयस्कर है। उन्होंने भक्ति की अमृतमयी धारा बहाकर धार्मिक विद्वेष की अग्नि मे जलते हुए हृदयो को शीतल किया। इनमे दो प्रकार के भक्त थे। एक तो व जो सामान्य मानव-धर्म को मानने वाले थे। और दूसरे वे जो भारतीय परम्परा की ओर उन्मुख थे। पहले प्रकार के महात्माओ को हिंदू या मुसलमान दोनो म से किसीके प्रति पक्षपात नही था। यद्यपि वे मुसलमान थे तथापि उनमे मानव-मात्र के प्रति प्रेम और सद्भावना थी। वे चाहते थ कि किसी प्रकार यह घृणा और द्वेष की भावना जो निरन्तर जीवन मे कटुता भर रही है कम हो। इसलिए उन्होंने मानव की वृत्तियो की पवित्रता को महत्ता का आधार बताया और प्रेम पर अत्यधिक जोर दिया। उन्हे न तो हिंदू-धम की रक्षा की चिंता थी न इस्लाम के प्रचार की धुन। वे इन सकीर्ण घेरो में बधकर नही चलते थ। इसका एक कारण यह भी था कि वे महात्मा निम्नवर्ग से आए थे और उन्होंने विशेष शिक्षा-दीक्षा भी प्राप्त नहीं की थी। केवल अपनी आत्मा की निर्मलता और सभ्यता पर उन्हे विश्वास था और उसीके बल पर वे ऐसा काम करने चले थ जिसे शासन-सत्ता भी करने मे असमर्थ थी। उन्होंने अपने-आपको जनता के साथ मिलाकर और जीवन को आदर्शमय बनाकर मानवता का उपदेश देना आरम्भ कर दिया। अपनी सचाई के कारण दोनो जातियो मे वे प्रतिष्ठित भी हुए और दोनो धर्मो की सामान्य बात लेकर एक नए धर्म का निर्माण किया जिसम ईश्वर का स्वरूप हिंदुत्व और इस्लाम दोनो से भिन्न था। उन्होंने मुसलमान होते हुए भी ऐसा इसलिए किया था कि वे मानव-मात्र के सच्च हितैषी थे उनम इतना साहस न था कि भक्ति म ईश्वर के उस सगुण रूप की स्थापना करते जो अत्याचारियो का नाश करने वाला है इसलिए उन्ह निर्गुण ईश्वर की सृष्टि करनी पड़ी जो भक्ति का विषय नहीं बन सका। यही कारण है कि कबीर जैसे उच्च कोटि के महात्मा का क्रान्तिकारी व्यक्तित्व अपने समय म ही अधिक प्रभाव का प्रमाव ना कर सका और उनका पन्थ आगे न बढ़ सका। जायसी

कबीर में भी कम रहा। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि उन सन्तों की दृष्टि में धार्मिकता ही हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की जड़ में थी। वे सांस्कृतिक और सामाजिक धरातल पर उभरकर नहीं सोच सकते थे। कारण न तो उनके ऐसे संस्कार थे न वे उस संस्कृति या समाज के अङ्ग थे जिसका अस्तित्व खतरे में था। एक प्रकार से वे साथ तटस्थ और किसी अंश में बहिष्कृत-से थे जिन्हें सहृदय और संस्कृतमस्तिष्क की स्वीकृति नहीं मिली थी। अतः वे तत्कालीन परिस्थितियों में व्याप्त निराशा को तो दूर कर सके लेकिन आगे बढ़ने के लिए उत्साह न दे सके।

जीवन में उत्साह का संचार करने में दूसरे प्रकार के भक्तों को सफलता मिली। ये भक्त पन्थों के प्रवर्तक न होकर भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए धार्मिक आधार पर क्रांति करने वाले वेद-शास्त्रों के पण्डित और तत्ववेत्ता आचार्यों द्वारा संचालित सम्प्रदायों के स्तम्भ थे। इन सम्प्रदायों में सन्तमार्ग से तत्वतः भेद यही था कि ये जिनके द्वारा चलाए गए थे वे हिन्दू-समाज के उच्च वर्ग के व्यक्ति थे और उन्हें समाज में प्रतिष्ठा भी थी। वल्लभाचार्य और रामानुजाचार्य जी ऐसे ही व्यक्ति थे जिन्होंने कृष्ण और राम को विष्णु का अवतार बनाकर हिन्दू-जनता की सुप्त भावनाओं को जगाया और उनके हृदय में आशा का संचार किया। इनमें भी सूरदास जी ने केवल बालकृष्ण की माधुरी और सुन्दरता के गीत गाए, जिससे जीवन में रस और आनन्द का संचार हुआ और जनता भगवत्-लीला के श्रवण कीर्तन और स्मरण में डूब गई। परन्तु शिशु के साथ जी बहलाया जा सकता है जीता भी जा सकती है। गम्भीर समस्याओं और समाधानगामी कार्यों के लिए उनसे प्रेरणा नहीं मिल सकती जो जीवन की सफलता के लिए अतीव आवश्यक है। बालकृष्ण की जो उपासना सूर के द्वारा ब्रजभाषा का शृंगार करती हुई जनता तक पहुँची उसमें जीवन का एकांगी दृष्टिकोण था—केवल लोकरंजन। अतएव लोक-रक्षक स्वरूप की स्थापना के लिए अभी अवकाश था। प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस कार्य के लिए भगवान् राम

के मर्यादाहीन जीवन को अपनी वाणी का विषय बनाकर, जीवन की व्यापक अभिव्यञ्जना की ओर आदर्श और कर्तव्यों का सन्निवेश इस प्रकार समावेश किया कि हिन्दू-धर्म हिन्दू-जाति हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू-संस्कृति तात्पर्य यह कि समग्र हिन्दुत्व की भावना एकदम सजीव हो उठी। तुलसीदास जी का व्यक्तित्व इतना सर्वग्राही है कि वे एक ही साहित्य शिरोमणि राजनीति-विशारद धर्म-संस्थापक समाज-सुधारक और युग निर्माता हैं। अकेले उन्होंने ही हमारे जीवन की सभी दिशाओं को घेर लिया है और हम आज ही नहीं सदैव उनके ऊपर गर्व करते रहेंगे। यदि अंग्रेज शेक्सपियर पर इतना अभिमान करते हैं कि वे उसके लिए अंग्रेजी साम्राज्य को भी छोड़ने के लिए तैयार हैं तो भारतीय भी तुलसीदास के ऊपर सर्वस्व निछावर कर सकते हैं। तुलसीदास और भारतीयता पर्याय वाची शब्द हो गए हैं। उनकी वाणी में वह ओज वह प्रभाव और वह प्रेरणा-शक्ति है कि वे हमारे जीवन के कण-कण में व्याप्त हैं। राजा से लेकर रंक तक और महलों से लेकर झोपड़ियों तक सर्वत्र राम नाम की शीतल छाया में हिन्दू-हृदय अपने जीवन की निराशा असफलता और सामर्थ्यहीनता छोड़कर नव-जीवन की अभूतपूर्व शक्ति पाता है इसका एकमात्र श्रेय उन्हीं महात्मा तुलसीदास को है।

अब हम उन कारणों और परिस्थितियों को भी देखें जिन्होंने उस महात्मा के जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण कार्य करने की प्रेरणा दी और उन्हें अपने युग का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बना दिया। इस सम्बन्ध में सब से पहली बात तो यह है कि वे महात्मा शैशवावस्था में ही सामाजिक प्रतिष्ठा से वंचित रह थे। माता-पिता ने उनको जन्म के बाद ही छोड़ दिया था।[1] वे चार चना को ही चार फल समझते थे।[2] जन्म हुआ उच्चकुल में हुआ था किन्तु दरिद्रता के कारण न माने को 'भोगन' कुल का सामना करने

१—मातु पिता जग जाय तज्यो विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई
२—बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।

के मर्यादाहीन जीवन को अपनी वाणी का विषय बनाकर, जीवन की व्यापक अभिव्यञ्जना की ओर आदर्श और कर्तव्यों का भक्ति में इस प्रकार समावेश किया कि हिंदू-धर्म हिंदू-जाति हिंदू-सभ्यता और हिंदू-संस्कृति तात्पर्य यह कि समग्र हिंदुत्व की भावना एकदम सजीव हो उठी। तुलसीदास जी का व्यक्तित्व इतना सर्वव्यापी है कि वे एक ही साहित्य-शिरोमणि राजनीति-विशारद धर्म-संस्थापक समाज-सुधारक और युग निर्माता हैं। अकेले उन्होंने ही हमारे जीवन की सभी दिशाओं को घेर लिया है और हम आज ही नहीं सदैव उनके ऊपर गर्व करते रहेंगे। यदि अंग्रेज शेक्सपियर पर इतना अभिमान करते हैं कि वे उसके लिए अंग्रेजी साम्राज्य को भी छोड़ने के लिए तैयार हैं तो भारतीय भी तुलसीदास के ऊपर सर्वस्व निछावर कर सकते हैं। तुलसीदास और भारतीयता पर्याय वाची शब्द हो गए हैं। उनकी वाणी में वह ओज वह प्रभाव और वह प्रेरणा-शक्ति है कि वे हमारे जीवन के कण-कण में व्याप्त हैं। राजा से लेकर रंक तक और महलों से लेकर झोपड़ियों तक सर्वत्र राम नाम की शीतल छाया में हिंदू हृदय अपने जीवन की निराशा असफलता और सामर्थ्यहीनता खोकर नव-जीवन की अभूतपूर्व शक्ति पाता है इसका एकमात्र श्रेय उसी महात्मा तुलसीदास को है।

अब हम उन कारणों और परिस्थितियों को भी देखें जिन्होंने उस महात्मा के जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण कार्य करने की प्रेरणा दी और उन्हें अपने युग का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बना दिया। इस संबंध में सब से पहली बात तो यह है कि वे महात्मा शैशवावस्था में ही सामाजिक प्रतिष्ठा से वंचित रहे थे। माता-पिता ने उनको जन्म के बाद ही छोड़ दिया था।[1] वे चार चनों को ही चार फल समझते थे। जन्म हुआ उच्चकुल में हुआ था लेकिन दरिद्रता के कारण न पाने को 'अपन' युग का समझा करते

१—मातु पिता जग जाय तज्यो विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई
—बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हौ चारि फल चारि ही चनक को।

नष्ट किया। मर्यादावाद की तुलसी में जो कुछ अधिकता है उसका मूल यहीं खोजना चाहिए, उसके लिए अन्यत्र भटकना भारसमझना है और कुछ नहीं।

स्त्री की उपदेशमयी वाणी से चोट खाकर वे महात्मा जीवन भर के लिए विरक्त हो गए। वैराग्य लेकर उन्होंने समस्त तीर्थों और पवित्र पुरियों की खाक छानी। अधिकांश समय अयोध्या काशी और चित्रकूट में बिताया और गंगा के किनारे बैठकर राम-नाम की साधना की।[1] इस साधना में केवल आत्म-तुष्टि की ही भावना नहीं थी उसमें लोक-कल्याण की भी भावना थी। तभी तो उन्होंने भ्रमण द्वारा पंडितों और साधु सन्तों के सत्संग द्वारा तथा वेदशास्त्र और पुराण उपनिषदों के पारायण द्वारा ऐसी उत्कृष्ट कोटि की 'राम रसायन' तैयार की कि जिसे सेवन करके हिन्दू जाति विदेशी सभ्यता के महारोग से सदैव के लिए मुक्त हो गई और आज भी उसके प्रभाव से उसका अस्तित्व जीवित है। लेकिन तुलसीदास जी का यह वैराग्यमय जीवन था उसमें कष्टों और आपत्तियों की कमी नहीं थी। वे रोगों दुर्बलता और दरिद्रता से घिरे थे और पीड़ा से उनका शरीर जर्जर था तो भी उनका आत्मविश्वास बड़ा उच्च कोटि का था और वे राम-नाम के प्रभाव से पैर पसारकर सोया करते

१—(क) [illegible] सरित सनेह [illegible] [illegible] बानी।
(ख) तुलसी को राम सो सनेह साँचो चाहिए
तो मेरह सनेह सो [illegible]।
(ग) मानस बचन [illegible] राम के [illegible]
२—(क) घेर लियो रोगनि, कुजोगनि कुलोगनि ज्यौं
बासर जलद घन घटा धुकि धाई है।
(ख) पाँव पीर पेट पीर बाहु पीर मुँह पीर।
जर जर सकल पीर मई है।

की निन्दा करने वाले और साथ ही भक्ति का निरूपण करने वाले व्यक्तियों को वे बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनकी दृष्टि में वेद-विहित और वैराग्य-विवेकसंयुत हरि-भक्ति-पथ को छोड़कर अनेक पन्थों की कल्पना करना और उस सत्पमार्ग को छोड़ना मोहग्रस्त होने की सूचना देने के समान था। वे इस बात को समाज के लिए अशोभनीय समझते थे कि शूद्र ब्रह्मज्ञानी होने का दावा करके ब्राह्मणों की बराबरी करें।

वे वेद-शास्त्र-पारंगत और समाज-शास्त्र-वेत्ता थे तथा उच्चकोटि के त्यागी महात्मा और कवि थे तथापि अत्यन्त विनम्र शीलवान और सरल हृदय के व्यक्ति थे। उनकी दीनता और विनय के समक्ष किसी भी सत्कवि के वचन नहीं ठहरते। 'रामचरितमानस' जैसी श्रेष्ठतम रचना देने पर भी अपने को 'कवित्त-विवेक' से हीन और कला तथा विद्या रहित कहना तुलसीदास जी की महानता ही सिद्ध करता है। कहते हैं कि वृक्ष जितना ही ऊंचा होता है वह उतना ही विनम्र होता है। तुलसीदास जी पर यह उक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती है। वे अपने सम्बन्ध में इस प्रकार की लघुता की बात करते हैं और इसमें गौरव का अनुभव करते हैं। वह इसलिए कि इससे उनकी आत्मा की महानता व्यक्त होती है।

१—साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं बेद पुरान॥
श्रुति-सम्मत, हरि-भगति पथ, संजुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोहबस कल्पहिं पंथ अनेक॥
बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो विप्रबर, आँखि दिखावहिं डाटि॥

२—कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥
[illegible]
[illegible]
[illegible]

तुलसीदास जी को स्वभाव और आडम्बर से बड़ी चिढ़ थी। वे स्वयं सरल हृदय के व्यक्ति थे। इसलिए जहाँ कहीं वे इस प्रकार की अनर्गल बात देखते थे वहीं उनका क्रोध प्रकट हो जाता था और कभी-कभी बुरी तरह उन्हें फटकार देते थे।[1] इसके साथ ही वे 'नर-काव्य' करना ही नहीं जानते थे। उनके समय में अकबर के दरबार में रहना की चमक होती थी। अनेक कवि राजाश्रय में रहते थे परन्तु तुलसीदास जी की यह विशेषता थी कि वे इस मनुष्यों की 'प्रशंसा' और 'राजाश्रय' से कोसों दूर थे। किसी मनुष्य की प्रशंसा करना वे सरस्वती का अपमान समझते थे। और सही है, जिसे समाज-निर्माण करना हो और समूचे राष्ट्र को जीवन देना हो वह व्यक्ति इन छोटी-छोटी बातों में किस प्रकार उलझ सकता था।

तुलसी के जीवन के सम्बन्ध में—उनकी अन्तर्बाह्य की प्रकृति के विषय में—इतना जानने के साथ ही एक बात और भी जानने योग्य है। वह यह कि तुलसीदास जी के समय विश्वनाथपुरी काशी संस्कृत का गढ़ थी इसीलिए जब तुलसीदास जी ने अपनी रामायण अपनी भाषा में जिस भाषा कहा जाता था लिखी तो पंडितों के क्रोध का ठिकाना न रहा। सुनते हैं तुलसीदास जी को उन लोगों ने अनेक कष्ट भी दिए थे और रामायण की हस्तलिखित प्रति को नष्ट भी कर दिया था। लेकिन तुलसीदास जी इससे विचलित नहीं हुए थे। होते भी क्यों? सिद्धान्त था कि दुष्टों के वचनों को चुपचाप सह लेना चाहिए उसी प्रकार जिस प्रकार कि पहाड़ वर्षा को सह लेते हैं—"बूंद अघात सहहिं गिरि कैसे खल के बचन संत सह जैसे।"[2] समय की पुकार पर उनके हृदय ने भाषा में ही अपने अनुभव व्यक्त किए यद्यपि वे चाहते तो संस्कृत में भी लिख सकते थे किन्तु तब वे जनता के हृदय हार न बन पाते जिस पुस्

१—हम लखि लखहि हमार लखि, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि। राम नाम जपु नीच॥

२—बूंद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥

त्रिपुण्डधारी पण्डितों के लिए कुछ सामग्री भले ही जुटा देते। जन-साधारण की भाषा में लिखकर उन्होंने अपनी महानता का परिचय दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदास का जीवन, उनकी प्रकृति और स्वभाव भक्तिकाल के अन्य सभी कवियों से भिन्न है। वे जीवन में मनुजत्व के समर्थक थे और इसलिए वे चाहते थे कि जीवन का ऐसा उचित पथ लोगों को बताया जाए जिसपर चलकर वे आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा कर सकें। जन-साधारण की भाषा को अपनाना, समाज का गहरा अध्ययन करना, वेद-शास्त्रों के मन्थन से युगानुकूल लाभप्रद तत्त्वों का संग्रह करना, दुर्भावनाओं और लोभ-लालच के सम्मुख न झुकना, आदर्श के लिए सब कुछ बलि चढ़ा देना आदि ऐसे गुण हैं जो विरले ही महात्माओं में होते हैं। तुलसीदास जी ने अपना जीवन एक वैरागी और संसारत्यागी महात्मा के रूप में आरम्भ किया था, परन्तु जीवन की कटुता और पीड़ित जन-समुदाय के सन्ताप-सागर की उत्ताल तरंगों से उनका हृदय इतना द्रवीभूत हो गया था कि वे आत्मबोध के लिए की गई साधना को लोक-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए उपयोग करने को बाध्य हो गए। उनके साहित्य में जीवन की जो व्यापक अनुभूति मिलती है उसका कारण उनकी यही लोक-धर्म और समाज की मर्यादा को पुनर्स्थापित करने की भावना है, जिसके लिए उन्होंने जीवन की सब-विषम अवस्थाओं को पारकर 'सियाराममय सब जग जानी, करहु प्रनाम जोरि जुग पानी' की टेक निभाई और भारतवर्ष की मूलप्राण हिन्दू जनता को अमृत पिलाकर युग-युग के लिए अमर कर दिया।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने बहुत लम्बा जीवन पाया था। यह एक संयोग की बात थी। पर संयोग भी आवश्यक ही था, क्योंकि यदि वे इतना लम्बा जीवन न पाते तो अपने ग्रन्थों में जीवन की ऐसी मार्मिक विवेचना न कर पाते। यों तो उन्होंने अनेक ग्रन्थ अपने जीवन-काल में लिखे होंगे परन्तु रामलला नहछू, वैराग्य-संदीपनी, बरवै रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, रामाज्ञा-प्रश्न, दोहावली, रामचरितमानस

कवितावली, कृष्णगीतावली और विनयपत्रिका ये १२ ग्रंथ प्रामाणिक माने गए हैं। इनमें भी अंतिम छह विशेष महत्त्व के हैं, क्योंकि ये तुलसीदास जी के जीवन के आदर्शों और सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विचारों के कोष हैं। अंतिम छह ग्रंथों में कृष्णगीतावली का महत्त्व इसलिए है कि इसमें कृष्णचरित वर्णित होने से तुलसीदास ऐसे वैष्णव कवि के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं जिसे विष्णु की व्यापकता में पूर्ण विश्वास है और जो अवतारवाद का प्रबल समर्थक है। यह ब्रजभाषा में है और पद-रचना में कवि के कौशल को प्रकट करती है। 'विनयपत्रिका' कवि के आत्मनिवेदन और आत्मबोध के प्रदर्शन के साथ-साथ उसके दार्शनिक और भक्ति के सिद्धान्तों को व्यक्त करती है। 'कवितावली' में राम के पराक्रम की प्रधानता है और 'गीतावली' में उनके बाल-वर्णन की। 'गीतावली' को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रंथ को लिखने से पूर्व वे 'सूर-सागर' देख चुके थे और कृष्ण का बाल-वर्णन पढ़ चुके थे। तभी उस रूप में बाल-वर्णन लिखने की उन्हें सूझी। इसकी शैली सूर से बहुत मिलती-जुलती है। अब एक ही ग्रंथ बच जाता है और वह है 'रामचरितमानस'। यही ग्रंथ मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र की यश-गाथा से सुशोभित है। रामकथा का यह ज्योतिर्मय दीपक है जिसके प्रकाश में जीवन का समस्त कलुष धुल जाता है। यों तो उनके सभी ग्रन्थों में राम की कथा थोड़ी-बहुत है ही परन्तु इसमें विशेष रूप से राम का जीवन चित्रित किया गया है। इस ग्रंथ को गोसाईं जी महाराज ने महाकाव्य के दृष्टिकोण से लिखा है। जिसमें जीवन के समस्त अंगों का पूर्ण समावेश किया गया है। साथ ही धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों को रामकथा के साथ ऐसा गूँथ दिया गया है कि शुष्क सिद्धान्त भी काव्य की वस्तु बन गए हैं। इस ग्रन्थ को उन्होंने 'स्वान्तःसुखाय' लिखा है और इसके लिए 'नानापुराणनिगमागम'

की सहायता ली है। विशेषता यह है कि उन्होंने सहायता लेने पर भी उसे ऐसा अपना बना लिया है कि सरलता से उसे आप ताड़ नहीं सकते। यही उनकी मौलिकता है। उन्होंने राम को नारायणत्व से अभिभूषित करके उपस्थित किया है वाल्मीकि की भांति नरत्व से नहीं। वे भू-भार उतारने के लिए पृथ्वी पर आए हुए हैं यह दिखाना ही कवि का लक्ष्य है। लेकिन कवि की विशेषता यह है कि पाठक को वे मनुष्य के रूप में सर्वत्र दिखाई देते हैं। कहीं भी उनका यह ब्रह्म का रूप पृथकत्व की सृष्टि करके इस पार्थिव संसार से दूर की चीज नहीं दिखाई देता। तुलसीदास की यही मौलिकता है जो उन्हें सदा हमारे निकट रखती है चाहे किसी भी परिस्थिति में हो। और आश्चर्य की बात यह है कि मानव-चरित पढ़ते हुए भी हमें गर्व उनके प्रभु पर श्रद्धा और भक्ति बनी रहती है। तुलसीदास जी की इस कला की प्रशंसा के लिए वाणी मूक हो जाती है। रामायण निःसंदेह भारतीयता का प्रतीक है और जब तक यह है हिन्दुत्व का ह्रास भले ही हो जाए, नाश नहीं हो सकता। यह क्या कम सौभाग्य की बात है।

बार-बार हिंदुत्व शब्द पढ़कर पाठक यह न समझें कि हम तुलसीदास जी को संकीर्ण हृदय का व्यक्ति समझते हैं। वास्तव में तुलसीदास जी ने जो कुछ किया उसमें हिंदू-राष्ट्रीयता की स्थापना का उद्देश्य निहित था इसीलिए हम यह शब्द अधिक प्रयोग कर रहे हैं। कुछ लोग तुलसीदास जी को सम्प्रदायवादी हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य का प्रचारक और दकियानूस समझते हैं। उनकी दृष्टि बड़ी संकुचित है वे किसी कवि को उसकी परिस्थितियों में रखकर नहीं देख सकते। इसीलिए वे ऐसा कहते हैं। इसमें दोष उनकी शिक्षा का है उनका नहीं। क्योंकि

१—[illegible] यद्—
[illegible]।
[illegible]।
[illegible] ॥

समय के साथ चलता और बदलता जाता है। उस उस समय के अतिरिक्त आगे या पीछे की परिस्थितियों के बीच में रखकर देखना उस व्यक्ति के प्रति अन्याय करना है। तुलसीदास जी को आज की परिस्थितियों में रखकर देखना और उन्हें चाहे जो कह बैठना असंगत है। उनके हिंदुत्व से घबराकर उन्हें आप बुरा भला कह, इससे उनकी महत्ता कम नहीं होगी। वे अपने समय के सजग द्रष्टा थे और उस नाते उन्हें राष्ट्रीयता की कल्पना केवल हिंदू-जाति के सामूहिक उत्थान में ही दीख पड़ी। शासक जाति की ओर से प्रयत्न हो रहे थे और धार्मिक उदारता का परिचय दिया जा रहा था इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु काव्य जगत् अथवा साहित्य की सृष्टि इतिहास से बहुत भिन्न है। तुलसीदास जी इतिहास-लेखक नहीं थे जो शुष्क घटनाओं या ऊपरी बातों से प्रभावित होकर रोजनामचा तैयार करते। वे युगद्रष्टा कवि थे जनता की भावनाओं को पढ़ने की शक्ति रखते थे। फिर जिस प्रकार के संस्कार लेकर वे जन्मे थे और जैसे वे अनुभव के लिए मारे-मारे फिरे थे उस सब से उनका व्यक्तित्व विशेष प्रकार का बन गया था। हिंदू संस्कृति के प्रत्येक अंग का उन्हें ऐसा ज्ञान था कि वे सरलता से विषयज्ञ कहे जा सकते थे। उसी संस्कृति के उत्तराधिकारी होकर उन्होंने उसकी रक्षा के लिए अपनी समस्त शक्ति लगाई। इसमें द्रष्टव्य यह है कि उन्होंने शासक जाति के प्रति अपनी अनुदारता का परिचय नहीं दिया। हां सांस्कृतिक दृष्टि से उसकी आलोचना अवश्य की।

उनकी सब से बड़ी देन है 'रावणत्व' पर 'रामत्व' की विजय। यह अकेली देन ही उनको चिरामरणीय कवि बना देती है। एक परम पुरातन इतिवृत्त को लेकर उसमें राजनीति धर्म समाज आदि के सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए 'रावणत्व' पर 'रामत्व' की विजय दिखाने में ही उनके काव्य कौशल की छटा देखी जा सकती है। प्रश्न यह है कि यह 'रावणत्व' की कल्पना कहां से आई? यह कल्पना कहीं यों ही उनके मस्तिष्क में नहीं आ गई थी। यह उनके गहन चिंतन और मनन का

परिणाम था। उन्होंने देखा कि राजाओं में आपस में फूट है, परस्पर विरोध है और साम्राज्य मुसलमानों के हाथ में है। भीतरी कलह ने देश को बरबाद कर रखा है। लोग महाभारत की रीति बरतने लग हैं। भाई भाई में, बन्धु-मित्र में, परिवारी-कुटुम्बी में बात-बात पर परस्पर कलह है। बाहरी वैरी दबाए बैठा है। उस वैरी से छुटकारे का कोई साधन नहीं है। लोग निराश होकर उसको आत्मसमर्पण कर रहे हैं। गोस्वामी जी ने इसे बड़ी गहरी दृष्टि से देखा था और वे चाहते थे कि इस रोग की कोई दवा की जाए। हमारा विश्वास है कि यदि उस काल में हिंदू-जनता में जरा भी बल होता तो तुलसीदास जी ने क्रियात्मक रूप से भाग लिया होता और वे राजनीतिक नेता हो गए होते और उन्होंने अपना सारा समय इस बात के लिए लगाया होता कि हिंदू उठें और अपने को समझकर देश और जाति की रक्षा करें। लेकिन निराश हिंदू-जाति के लिए वे इससे अधिक कुछ नहीं कर सकते थे कि अपनी लेखनी की शक्ति का उपयोग करके ही जागृति का मंत्र दे जाएं। यह अच्छा ही हुआ क्योंकि यदि वे साहित्यकार न बने होते तो उनके तत्कालीन नेतृत्व से ही हम लाभान्वित होते जब कि आज हमें इतने वर्ष बाद भी उनके विचारों से लाभ उठाने का अवसर है। जो हम यह कह रहे हैं कि तुलसीदास जी ने अपने समय में मुसलमानों की बढ़ती हुई शक्ति को देखा था उससे वे बड़े परेशान थे। परेशान इसलिए थे कि उनका व्यक्तित्व हिंदुत्व के लिए अपने को मिटा चुका था। वे जो कुछ सोचते थे विशाल हिंदू राष्ट्र की दृष्टि से ही सोचते थे। इसलिए उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम द्वारा रामचरित चिन्तामणि का पुनरुद्धार किया और रामराज्य का मंत्र दिया। यह रामराज्य है क्या? भगवान् ने गीता में कहा है कि जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब धर्म के अभ्युत्थान के लिए साधुओं के परित्राण के लिए और दुष्टात्माओं के विनाश के

भी उन्होंने राजधर्म का वर्णन किया है और स्वराज्य, सुराज, राजा का आचरण, प्रजा का व्यवहार, मंत्री का कर्तव्य, इतर धर्म, आपद्धर्म, दण्ड की विधि, राजा-राजा, मित्र-मित्र, शत्रु-शत्रु और शत्रु-मित्र का पारस्परिक व्यवहार, सेवक और स्वामी का सम्बन्ध आदि बातों पर विस्तार से विचार किया है। उपर्युक्त विवेचना का उद्देश्य पाठकों को यह बतलाना है कि तुलसीदास जी ने 'रामराज्य' और 'रावणराज्य' की जो कल्पना की है उसके मूल में भारत की तत्कालीन राजनीतिक दुरवस्था थी जिससे दुःखी होकर उन्होंने प्रच्छन्न रूप में मनन कर दिया है। एक युगप्रवर्तक कवि के लिए ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक भी था। तुलसीदास जी ने यद्यपि उस समय की भारतीय राजनीतिक परिस्थिति के चित्रण की ओर ध्यान दिया है और यह बताया है कि उसकी बुराइयों के प्रतिकार के लिए क्या किया जा सकता है तथा वास्तविक राजधर्म क्या है तथापि उनकी यह राजधर्म की कल्पना एकदेशीय नहीं है बल्कि सार्वभौमिक है और उसकी व्याख्या वैज्ञानिक है। जब तक अत्याचारी शासक पृथ्वी पर हैं तब तक और जब तक उनका दमन मानव-कल्याण के लिए आवश्यक है तब तक तुलसीदास जी के राजनीतिक आदर्शों को सार्वभौमिकता से वंचित नहीं किया जा सकता।

राजनीति का उन्होंने स्वेच्छा से चित्रण किया है और उसमें कथा द्वारा अपने विचारों का प्रदर्शन किया है। वैसे उनका मूल ध्येय तो समाज-नीति की व्याख्या का था। वे किसी पंथ, संप्रदाय या मतविशेष का न मानकर प्राचीन सनातन परिपाटी के हामी थे। उनकी दृष्टि बड़ी दूर तक जाती थी। वैदिक काल में आर्य-सभ्यता का जो पूर्ण समस्त जगत् में प्रसार करना था उसका कारण यह था कि समस्त आर्यजाति वर्णाश्रम-धर्म की भावना से ओतप्रोत थी और उस धर्म का पालन करना ही प्रत्येक व्यक्ति का पावन कर्तव्य था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों में समाज का विभाजन हुआ था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमों का पालन इस प्रकार किया

जाता था कि जीवन के विकास की पूरी-पूरी सुविधा रहती थी और सामाजिक सन्तुलन भी बराबर बना रहता था। धर्म ज्ञान-विज्ञान और स्वार्थ-परमार्थ की सिद्धि के लिए जीवन का मार्ग अत्यन्त उपयोगी था। इस प्रयोग ने एक बार भारतवर्ष की गुण-गरिमा से समस्त विश्व को चौंका दिया था। तुलसीदास जी ने वेद-शास्त्रों के अध्ययन से इसका अनुभव किया था और वे प्राचीन सभ्यता के काल्पनिक स्वर्ग के निवासी हो गए थे। लेकिन जब उन्होंने अपने सामने ही आर्य जाति के वंशजों की दुर्दशा देखी तो वे तत्काल ही समझ गए कि इस दुर्दशा से मुक्ति पाने का एकमात्र साधन उस वर्णाश्रम-धर्म की पुनःप्रतिष्ठा है, जिसने आदि काल से अब तक इस जाति की रक्षा की है। इसीलिए उन्होंने लोक-धर्म के नाम पर वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा पर जोर दिया। प्रश्न हो सकता है कि छुआछूत और धनी-निर्धन की समस्या ही हिन्दुओं के पतन का मूल कारण थी तब तुलसीदास जी ने इसे कबीर की भाँति अथवा साम्यवाद के सिद्धान्त से मिलते-जुलते मार्ग को लेकर इस समस्या को क्यों नहीं सुलझाया? इसका उत्तर तुलसीदास जी के दृष्टिकोण से ही यह दिया जा सकता है कि उनकी दृष्टि तात्कालिक हल ढूंढने में न थी और न वे यही चाहते थे कि समयानुसार साधनों का उपयोग कर मामला सुलझा लिया जाए। न तो बहुत गहरी नींव रखना चाहते थे और आर्य संस्कृति के सनातनी आधार की जो दयनीय अवस्था थी उसे वे मरम्मत द्वारा ठीक करना चाहते थे न कोई नया रूप ही देना चाहते थे। वे तो उसे उसी रूप में पुनः शास्त्र-व्यवस्था से संस्थापित करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रतीक राम को लिया जब कि उनके पूर्ववर्ती कवियों ने या तो साधारण राजाओं की गुणावली गाई, या निर्गुण ब्रह्म की पहेलियाँ बुझाईं या प्रेमकथाएं कहीं। कुछ कवियों ने जैसे सूर आदि ने भगवान् का राम से मिलता-जुलता रूप लिया भी था परन्तु वह केवल एकांगीपन को लिए हुए था संस्कृति का प्रतीक वह नहीं था। तुलसीदास जी ने ही सर्वप्रथम राम के रूप में ऐसी कल्पना

की कि भारतीय संस्कृति के लिए जीवन में नये प्रकाश की किरणें चमकीं। फिर वे नये मार्गों और पंथों के घोर विरोधी थे। वे तो कहा करते थे कि अपने मतों की कल्पना करके पंथों का प्रकाशन करना दंभियों का काम है। ऐसी स्थिति में जबकि वर्णाश्रम-धर्म नहीं है और सब नारी-नर वेद-विरुद्ध हैं ऐसे पंथों का प्रकाशन हेय है।[1] इसीलिए स्वयं त्यागी और विशेष प्रकार के सिद्धान्तों के मानने वाले महात्मा होते हुए भी उन्होंने कोई पंथ नहीं चलाया। हां उनका ध्यान इस ओर अवश्य था कि जितने भी पात्र उनके द्वारा चित्रित किए जाएं वे सब सात्विक भावना से भरे हों। उनमें दुर्भावना या तामस वृत्ति न हो। रावण को छोड़कर उनके किसी पात्र को लीजिए, वह सद्भावना से विमुख नहीं मिलेगा।

रावण की विद्या-बुद्धि की उन्होंने भी खोलकर प्रशंसा की है और उसकी महत्ता को स्वीकार किया है। हां निन्दा उसके विद्या-बुद्धि के दुरुपयोग की ही की है, जिसने उसे राक्षस बना दिया। सबसे पहले राम को ही लीजिए। वे आदर्श राजा थे। उनके पिता दशरथ भी पुत्र प्रेम और राजधर्म के ज्वलंत उदाहरण थे। परन्तु राम ने अपने पिता की दुर्बलता देखी थी और देखा था उसका दुष्परिणाम। अतएव उन्होंने एक-पत्नीव्रत का पालन किया। हमारी सम्मति में तुलसीदास जी ने राम के एकपत्नीव्रत-पालन का जो आदर्श रखा है वह उनकी सबसे बड़ी देन है। राम ही नहीं उनके सभी भाइयों के एक ही एक स्त्री थी। स्त्री ही नहीं सन्तानें भी दो से अधिक किसी के नहीं थीं। यह एक ऐसा उदाहरण है जिसकी समानता के लिए हमारे पास कोई अन्य उदाहरण नहीं है। उनकी सीता भी ऐसी तपस्विनी स्त्री है जो पति के इंगित पर जीती है। उनके लिए सर्वस्व पति है और वे राजमहिषी होते हुए भी अपने हाथ से घर

१—दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ।
बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥

का काम-काज करती हैं, मिलकर गृह परिचर्या करतीं। राजा-रानी ही नहीं प्रजा भी अपने कर्तव्य-पालन में उसी प्रकार रत है। चाहे आधुनिक साम्यवादी समाज वहाँ न हो लेकिन वानर, राक्षस, कोल भील, किरात, गोप सब रामचन्द्र जी के लिए समान थे और सबको उन्होंने सम्मान भी दिया था। नारी जाति के प्रति भी तुलसीदास जी का आदर भाव था। पार्वती, अनुसूया, कौशल्या, सीता, ग्राम-वधू आदि का उनका चित्रण इस बात का प्रमाण है। कुछ लोग तुलसीदास जी को स्त्री-निन्दक कहते हैं और उनके उन स्थलों को उद्धृत करते हैं जहाँ उन्होंने नारी जाति की निंदा की है[1]। लेकिन यह भूल है। जिस लेखनी ने उक्त चरित्र अंकित किए हैं और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है, वही लेखनी स्त्री-निंदा का असभ्य कार्य कैसे कर सकती है? बात यह है कि ऐसे कथन विशेष स्थिति में पड़े पात्रों द्वारा ही कहलाए गए हैं इसलिए वे तुलसी के न होकर विशेष स्थिति में पड़े पात्रों के ही समझने चाहिए। तुलसीदास जी का समाज वर्णहीन भले ही न हो परन्तु वह था आदर्श और उसमें सुख-समृद्धि की कमी न थी। उत्तरकाण्ड में तुलसीदास जी ने रामराज्य का जो चित्र खींचा है वह इसी आदर्श का मूर्तिमान रूप है जिसमें वर्णाश्रम धर्म के तत्त्व निहित हैं—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥

० ० ०

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय सोक न रोग॥

० ० ०

१—ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।
(समुद्र की उक्ति राम के प्रति अपनी तुच्छता बताने के लिए)
नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥
(रावण की उक्ति मंदोदरी के प्रति उसकी सलाह ठुकराने के लिए)

की कि भारतीय संस्कृति के लिए जीवन में नये प्रकाश की किरणें चमकीं। फिर वे नये मार्गों और पंथों के घोर विरोधी थे। वे तो कहा करते थे कि अपने मतों की कल्पना करके पंथों का प्रकाशन करना दम्भियों का काम है। ऐसी स्थिति में जबकि वर्णाश्रम-धर्म नहीं है और सब नारी-नर वेद-विरुद्ध हैं, ऐसे पंथों का प्रकाशन हेय है।[1] इसीलिए स्वयं स्वामी और विशेष प्रकार के सिद्धान्तों के मानने वाले महात्मा होते हुए भी उन्होंने कोई पंथ नहीं चलाया। हाँ उनका ध्यान इस ओर अवश्य था कि जितने भी पात्र उनके द्वारा चित्रित किए जाएँ वे सब सात्विक भावना से भरे हों, उनमें दुर्भावना या तामस वृत्ति न हो। रावण को छोड़कर उनके किसी पात्र को लीजिए, वह सद्भावना से विमुख नहीं मिलेगा।

रावण की विद्या-बुद्धि की उन्होंने भी खोलकर प्रशंसा की है और उसकी महत्ता को स्वीकार किया है। हाँ, निन्दा उसके विद्या-बुद्धि के दुरुपयोग की ही की है जिसने उसे राक्षस बना दिया। सबसे पहले राम को ही लीजिए। वे आदर्श राजा थे। उनके पिता दशरथ भी पुत्र प्रेम और राजधर्म के ज्वलन्त उदाहरण थे। परन्तु राम ने अपने पिता की दुर्दशा देखी थी और देखा था उसका दुष्परिणाम। अतएव उन्होंने एक पत्नीव्रत का पालन किया। हमारी सम्मति में तुलसीदास जी ने राम के एकपत्नीव्रत-पालन का जो आदर्श रखा है वह उनकी सबसे बड़ी देन है। राम ही नहीं उनके सभी भाइयों के एक ही एक स्त्री थी। स्त्री ही नहीं संतानें भी दो से अधिक किसीके नहीं थीं। यह एक ऐसा उदाहरण है जिसकी समानता के लिए हमारे पास कोई अन्य उदाहरण नहीं है। उनकी सीता भी ऐसी तपस्विनी स्त्री हैं जो पति के इंगित पर चलती हैं। उनके लिए सर्वस्व वही हैं और वे राजमहिषी होते हुए भी अपने हाथ से घर

१—दम्भिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ।
बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥

की कि भारतीय संस्कृति के लिए जीवन में नये प्रकाश की किरणें चमकीं। फिर वे नये मार्गों और पंथों के घोर विरोधी थे। वे तो कहा करते थे कि अपने मतों की कल्पना करके पंथों का प्रकाशन करना दम्भियों का काम है। ऐसी स्थिति में जबकि वर्णाश्रम-धर्म नहीं है और सब नारी-नर वेद-विरुद्ध हैं ऐसे पंथों का प्रकाशन हेय है।[1] इसीलिए स्वयं त्यागी और विशेष प्रकार के सिद्धान्तों के मानने वाले महात्मा होते हुए भी उन्होंने कोई पंथ नहीं चलाया। हाँ उनका ध्यान इस ओर अवश्य था कि जितने भी पात्र उनके द्वारा चित्रित किए जाएँ वे सब सात्त्विक भावना से भरे हों उनमें दुर्भावना या तामस वृत्ति न हो। रावण को छोड़कर उनके किसी पात्र को लीजिए, वह सद्भावना से विमुख नहीं मिलेगा।

रावण की विद्या-बुद्धि की उन्होंने भी खोलकर प्रशंसा की है और उसकी महत्ता को स्वीकार किया है। हाँ निन्दा उसके विद्या-बुद्धि के दुरुपयोग की ही की है जिसने उसे राक्षस बना दिया। सबसे पहले राम को ही लीजिए। वे आदर्श राजा थे। उनके पिता दशरथ भी पुत्र प्रेम और राजधर्म के ज्वलन्त उदाहरण थे। परन्तु राम ने अपने पिता की स्त्रैणता देखी थी और देखा था उसका दुष्परिणाम। अतएव उन्होंने एक पत्नीव्रत का पालन किया। हमारी सम्मति में तुलसीदास जी ने राम के एकपत्नीव्रत-पालन का जो आदर्श रखा है वह उनकी सबसे बड़ी देन है। राम ही नहीं उनके सभी भाइयों के एक ही एक स्त्री थी। स्त्री ही नहीं सन्तानें भी दो से अधिक किसीके नहीं थीं। यह एक ऐसा उदाहरण है, जिसकी समानता के लिए हमारे पास कोई अन्य उदाहरण नहीं है। उनकी सीता भी ऐसी तपस्विनी स्त्री हैं जो पति के इंगित पर जीती हैं। उनके लिए सर्वस्व पति है और वे राजमहिषी होते हुए भी अपने हाथ से घर

१—दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ।
बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥

का काम-काज करती है, 'निजकर गृह परिचर्या करही'। राजा-रानी ही नहीं प्रजा भी अपने कर्तव्य-पालन में उसी प्रकार रत है। चाहे आधुनिक साम्यवादी समाज वहां न हो लेकिन वानर, राक्षस, वानर, कोल भील, किरात, बीच सब रामचन्द्र जी के लिए समान थे और सबको उन्होंने सम्मान भी दिया था। नारी जाति के प्रति भी तुलसीदास जी का आदर-भाव था। पार्वती, अनुसूया, कौशल्या, सीता, ग्राम-वधू आदि का उनका चित्रण इस बात का प्रमाण है। कुछ लोग तुलसीदास जी को स्त्री निंदक कहते हैं और उनके उन स्थलों को उद्धृत करते हैं, जहां उन्होंने नारी जाति की निंदा की है[1]। लेकिन यह भूल है। जिस लेखनी ने उक्त चरित्र अंकित किए हैं और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है, वही लेखनी स्त्री-निंदा का जघन्य कार्य कैसे कर सकती है ? बात यह है कि ऐसे कथन विशेष स्थिति में पड़े पात्रों द्वारा ही कहलाए गए हैं इसलिए वे तुलसी के न होकर विशेष स्थिति में पड़े पात्रों के ही समझने चाहिए। तुलसीदास जी का समाज वर्गहीन भले ही न हो परन्तु वह था आदर्श और उसमें सुख-समृद्धि की कमी न थी। उत्तरकांड में तुलसीदास जी ने रामराज्य का जो चित्र खींचा है वह इसी आदर्श का मूर्तिमान रूप है जिसमें वर्णाश्रम धर्म के तत्त्व निहित हैं—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥

◇ ◇ ◇

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय सोक न रोग॥

◇ ◇ ◇

१—ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।
(सागर की उक्ति राम के प्रति, अपनी त्रुटि छिपाने के लिए)
नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥
(रावण की उक्ति मंदोदरी के प्रति अपनी महत्ता जताने के लिए)

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र चरन सेवक नर नारी॥
एकनारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥

रामराज्य के साथ ही उन्होंने 'कलियुग' के वर्णन में तत्कालीन समाज की अव्यवस्था का जो चित्रण किया है उससे पता चलता है कि उस परिस्थिति की ही यह प्रतिक्रिया थी जो उन्होंने ऐसे आदर्श समाज की कल्पना की।

राष्ट्र और समाज के साथ उनके पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन की आदर्श भावना भी अत्यन्त भव्य है। रामचरितमानस पारिवारिक और व्यक्तिगत भावों का खजाना है। यदि भ्रातृप्रेम का उदाहरण देखना हो तो लक्ष्मण को लीजिए। नवविवाहिता पत्नी को छोड़कर भाई-भाभी को पिता-माता के रूप में अपनी सेवा का आदर्श बनाना खेल नहीं है। १४ वर्ष तक का जो व्रत इस त्यागी ब्रह्मचारी ने लिया उसे निभाना किसी दूसरे का काम नहीं। उनका क्रोध भी राम के अर्थ है। वैसे वे वीर भी हैं और गंभीर भी। यह तो हुआ भ्रातृप्रेम। भ्रातृभक्ति का साकार रूप यदि देखना हो तो भरत की ओर देखिए। राज्य मिला ठुकरा दिया। और मजे की बात देखिए, राम के लौटने तक शासन कार्य सम्भाला स्वयं और राजा माना भाई की पादुकाओं को। वे पादुकाएँ राम के रूप में सिंहासन पर रहीं और भरत ने मानो उनके सामने यह आदर भाव प्रकट करके अपना ही महत्त्व बढ़ाया। राम ने उन्हें प्रमाणपत्र दिया 'होतो नहिं जौ जनम जनम भरत को। तो कपि कहत कृपागार मन चलि भावरत भरत को।' शत्रुघ्न भी कम नहीं हैं। लक्ष्मण के छोटे भाई हैं। उग्रता उनमें जन्मजात है पर उनका खलता नहीं। मंथरा को चोटी से पकड़कर खींचने में उनका दोष भी क्या है? ऐसे गेह परिवार को बर्बाद बनाने वाली के साथ जो न किया जाए, वही थोड़ा है। छोटे भाई ही नहीं बड़े भाई के रूप में आदर्श राम को लीजिए। समुद्र-से गंभीर,

हिमालय-से धीर, आकाश-से उदार है। शक्ति शील और सौंदर्य के सघन हैं। वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल हैं। अत्याचारियों के दमन में उनके रौद्र रूप के और शरणागतों पर कृपा-प्रदर्शन में उनके कोमल रूप के दर्शन होते हैं। लक्ष्मण का क्रोध भरत का त्याग शत्रुघ्न की उग्रता अपने बड़े भाई की वीरता के समक्ष अनायास शान्त हो जाती है। ये भाई पुत्र-कर्त्तव्य के पालन में भी आदर्श हैं। पिता ने एक माता के कहने से—जिसे दासी ने बहका दिया था—बड़े भाई को वनवास दिया। बड़ा भाई तो आज्ञा मानकर वन जाता ही है छोटा भी साथ चल देता है। हम तो समझते हैं कि यदि भरत और शत्रुघ्न भी उस समय वहां होते तो वे भी राम के साथ चल देते और दशरथ के लिए एक समस्या खड़ी हो जाती। पर वे वहां थे नहीं इसलिए यह समस्या खड़ी नहीं हुई। लेकिन दशरथ भी सत्यपालन और पुत्र-प्रेम में कम नहीं हैं। वरदान तो आखिर देने ही थे सत्य के रक्षार्थ दे दिए। पुत्र-प्रेम भी पालना था। पुत्र के वनवासी होने पर प्राण दे दिए। इस प्रकार दोनों बातें हो गईं—राजधर्म की भी रक्षा हो गई और पुत्र-प्रेम की भावना की भी।

पिता-पुत्र ही नहीं परिवार के अन्य सदस्यों में माताओं का व्यवहार और भी त्यागपूर्ण है। कौसल्या का पुत्र राम वन जाता है और आज्ञा के लिए आता है तो वह कैकेयी की ही आज्ञा को अमर स्थान देती है। अपने को राम की माता ही नहीं मानती। और आश्चर्य यह कि कैकेयी के प्रति एक भी कटु शब्द नहीं कहती। यही हाल सुमित्रा का है। नवान वधू का ध्यान न कर पुत्र को भाई-भाभी की सेवा के लिए उपदेश देकर वन भेज देती है। न अपनी चिन्ता है न अपनी सन्तति की। ऐसा बलिदान आज आप अन्यत्र नहीं देख सकेंगे। लक्ष्मण के समान यशस्वी त्यागी वीर और आज्ञाकारी पुत्र पैदा करने पर भी उसे अभिमान या ईर्ष्या छू तक नहीं गई है। स्त्री-पात्रों में सुमित्रा का चरित्र बहुत उज्ज्वल है। कैकेयी का चरित्र कुछ ऊंचा नहीं है परन्तु कवि को इस चरित्र द्वारा ही अपने कौशल दिखाने की सुविधा थी। इसलिए उसकी अवतारणा

भी हेय नहीं है। फिर कैकेयी ने जो कुछ किया है, पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर किया है; उसमें उसका अपना स्वार्थ क्या है ? स्वयं उसके पुत्र ने ही उसका तिरस्कार किया है। उसका चरित्र घृणा का नहीं दया का पात्र है। यदि नारी के चरित्र का विकास देखना हो तो सीता का चरित्र देखिए। सीता जैसी आदर्श स्त्री विश्व-साहित्य में चित्रित नहीं हुई। उसका व्यक्तित्व अत्यन्त उज्ज्वल और भव्य है और वह नारी जगत् की आदर्श प्रतिमा है। हनुमान् जी आदर्श सेवक हैं, जो अपने स्वामी के लिए सम्भव-असम्भव सब कार्य निरालस भाव से करते हैं। मित्रता के लिए निषाद, विभीषण और सुग्रीव के चरित्र लीजिए। प्रभु के सख्य भाव का यहाँ पूर्ण विकास है। इस प्रकार परिवार और व्यक्तित्व की दृष्टि से तुलसीदास जी ने जिन पात्रों की कल्पना की है वे सब ऐसे हैं जो आदर्श पिता आदर्श पुत्र आदर्श माता आदर्श भाई आदर्श सेवक और आदर्श मित्र का श्रेष्ठतम स्थान प्राप्त करते हैं। व्यक्ति से परिवार बनता है, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र। इस तथ्य को तुलसीदास जी बहुत अच्छी तरह समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने ऐसे सुन्दर व्यक्तियों से निर्मित परिवार की कल्पना की और ऐसे श्रेष्ठ समाज तथा एक उत्कृष्ट राष्ट्र का चित्र प्रस्तुत किया।

तुलसीदास जी आदर्श भक्त और त्यागी महात्मा थे। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा वह लोकहिताय हो गया। वे अपने प्रभु को सर्वत्र व्याप्त देखते थे। 'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राम मय जानि। बंदउँ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि।' कहकर उन्होंने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है कि उनके लिए सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ राममय है। उनके इस विश्वास का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने धर्म की जो कल्पना की वह बड़ी विशाल थी। यदि उनकी कल्पना इतनी विशाल न होती तो वे अपने समय के शैवों शाक्तों और पुष्टिमार्गियों के पारस्परिक झगड़ों को न मिटा पाते। इन तत्कालीन सम्प्रदायों के एकीकरण का सुफल यह हुआ कि वैष्णव धर्म का ऐसा स्वरूप लोगों के सम्मुख आ गया जो एक ओर

तो भारतीय संस्कृति पर आश्रित होने के कारण हिन्दू-राष्ट्रीयता को स्थापित कर सका और दूसरी ओर मानव-धर्म के सिद्धान्तों से युक्त होने के कारण आघात पर आघात सहने पर भी नष्ट न हो सका। एक लाभ उनके धर्म-समन्वय का यह भी हुआ कि उससे हिन्दू-धर्म दूसरों की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा होने योग्य हो गया। इनके कारण रामभक्ति का प्रचार भी हुआ और उनका 'रामचरितमानस' धार्मिक ग्रंथ भी हो गया। उनके इसी समन्वय को लोक-धर्म का नाम दिया गया है जिसमें अज्ञात स्वर्ग के सुखों की आशा न होकर व्यावहारिक जीवन में ही स्वर्ग की अवधारणा की गई है और मुक्ति-सम्मत हरि भक्ति-पथ पर चलने के लिए शील के साथ सदाचार की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। समीक्षकों ने उनके विचारों और दार्शनिक निरूपण को देखकर उन्हें अद्वैतवादी विशिष्टाद्वैतवादी स्मार्त वैष्णव आदि अनेक सम्प्रदायों का अनुयायी बताया है। ऐसा इसलिए हुआ है कि तुलसीदास जी के कथन का ढंग ऐसा अनूठा है कि जो चाहे वह अपने अनुकूल अर्थ कर सकता है। वस्तुतः बात यह है कि गोस्वामी जी रामानुजाचार्य जी की परम्परा में श्रीरामानन्द के सिद्धान्तों के मानने वाले थे। ये वे ही रामानन्द हैं, जिन्होंने कबीर को (रामनाम) का मन्त्र दिया था और जिसके आधार पर कबीर ने 'निर्गुण सर्गुण से परे' अपने राम की कल्पना की थी। तुलसी का राम भी 'विधि हरि शम्भु-नचावनहारा' और दशरथ-सुत होकर भी परब्रह्म है। हम तो समझते हैं कि कबीर के व्यापक निर्गुण सम्प्रदाय के विरोध में ही तुलसी ने उनसे मिलते-जुलते ईश्वर की कल्पना की है। उन्होंने कबीर के सम्प्रदाय को नाम-शेष करने के लिए उनके आध्यात्मिक ईश्वर को जो केवल साधना के नाम का था और जो भक्ति का विषय नहीं बन सकता था लौकिकता का विषय बनाकर जन-जन के लिए भक्ति सुलभ बना दिया। उसके निर्गुण और सगुण दोनों रूप इसलिए रखे कि अपनी बात भी वे कह सकें और बिना युद्ध के निर्गुणिए सन्तों को भी पराजित कर सकें। यही क्यों उन्होंने तो सरस्वती गणेश शिव पार्वती

गुरु, वाल्मीकि मारुति सूर्य गंगा आदि सब की वंदना की है। 'विनय-पत्रिका' की विष्णु, शिव दुर्गा सूर्य और गणेश की वंदना से लोग उनको स्मार्त वैष्णव कहते हैं परन्तु यह भ्रम है। वे सब देवताओं की वंदना केवल इसलिए करते हैं कि उनसे राम-भक्ति का वरदान ले सकें। ये देवता भगवान् के रूप नहीं विभूति हैं। इसलिए वे न स्मार्त वैष्णव हैं न अद्वैतवादी और न विशिष्टाद्वैतवादी। वे तो सीधे-सादे राम के भक्त हैं। इन बातों की झलक लोगों को इसलिए मिल जाती है कि तुलसीदास जी अपने भगवान् का निरूपण करते समय इनके सिद्धांतों की भी सहायता लेते हैं, जिन्हें देखकर लोग उन्हें भिन्न-भिन्न वादों के अन्तर्गत घसीटते हैं। वस्तुतः तुलसीदास जी राम के अनन्य सेवक हैं और उनका सिद्धान्त है कि 'सेवक सेव्यभाव बिनु भव न तरिय उरगारी'। यही 'सेवक-सेव्य' भाव उनकी विशेषता है। तभी वे कहते हैं—

सो अनन्य जाके असि मति न टरै हनुमंता।
मैं सेवकु सचराचर रूप रासि भगवंता॥

यही कारण है कि उन्हें ज्ञान का पथ कृपाण की धार दिखाई देता है,[1] क्योंकि ज्ञान भ्रष्ट होने में देर नहीं लगती। वैसे वे ज्ञान और भक्ति में भी कोई भेद नहीं रखते'[2] क्योंकि दोनों से ही भव-जात दुःख दूर होते हैं। लेकिन भक्ति को आवश्यक समझते हैं क्योंकि यही सरल मार्ग है, और उसमें मुक्ति स्वतः चली आती है।[3]

तात्पर्य यह है कि तुलसीदास सीधे-सादे भक्त-हृदय हैं। किसी वाद की कोटि में नहीं आते। यदि उन्हें वाद में रखना ही अभीष्ट हो तो वे समन्वयवादी कहे जा सकते हैं। क्योंकि गीता से लेकर गांधीवाद तक सभी धर्म प्रवर्तकों के सिद्धांत उनकी वाणी के विषय हैं। डा० बलदेवप्रसाद मिश्र के शब्दों में गीता का अनासक्ति योग बौद्धों और जैनों का अहिंसावाद

१—ग्यान कै पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
२—भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
३—राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अन इच्छित आवइ बरिआईं॥

वैष्णवों और शैवों का अनुराग-वैराग्य, शाक्तों का बल, शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज की भक्ति-भावना, निम्बार्क का द्वैताद्वैतभाव, मध्व की रामोपासना, वल्लभाचार्य की बालकृष्णोपासना, चैतन्य का प्रेम, गोरख आदि योगियों का संयम, कबीर आदि सन्तों का नाम-माहात्म्य, रामकृष्ण परमहंस का समन्वयवाद, ब्रह्म-समाज की ब्रह्म कृपा, आर्य-समाज का आर्य-संगठन और गांधीवाद की सत्य-अहिंसामूलक आस्तिकतापूर्ण लोक सेवा आदि सब कुछ तो उसमें है ही, साथ ही मुसलमानों का मानव बन्धुत्व और ईसाइयों का श्रद्धा तथा करुणा से पूर्ण सदाचार भी उसमें क्रीड़ा कर रहे हैं।[1]

अब तक हमने तुलसीदास जी के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विचारों का ही परिचय पाया है। लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। वे महात्मा कुशल राजनीतिज्ञ, योग्य समाज-शास्त्री और तत्वदर्शी दार्शनिक होने के साथ-साथ कवि-शिरोमणि और सरस्वती के वरद पुत्र भी हैं। और सच तो यह है कि काव्य की मीठी कुनैन में ही उन्होंने ऊपर के विभिन्न विषयों का समावेश कर दिया है, जिससे ग्रहण में सुविधा हो। उनके कथन की भी यह विशेषता है कि वे भक्त और कवि एक साथ हो गए हैं। इसका कारण है—उनकी प्रबलतीव्र वृत्ति। यही वृत्ति साधारण प्राणी और कवि में अन्तर उपस्थित करती है। साधारण व्यक्ति के लिए बड़ी से बड़ी घटना कुछ मूल्य नहीं रखती, जब कि कवि के लिए छोटी से छोटी बात भी महत्त्वपूर्ण होती है। आदिकवि वाल्मीकि ने जिस क्रौंच पक्षी के वध से कातर होकर करुण चीत्कार किया था, उसे सैकड़ों व्यक्तियों ने देखा होगा पर वह प्रबलशीलता किसी में न थी, जो कवि बना जाती और जिससे वे ऋषि की भाँति शाप दे सकते। ऋषि की यही भावुकता उन्हें आदिकवि बना गई। यही अन्तर होता है साधारण व्यक्ति में और कवि में। तुलसीदास जी सच्चे अर्थों में कवि

1—[illegible] सन्त।
[illegible]

थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि अपनी वाणी के स्फुरण के लिए उन्होंने ऐसा असाधारण चरित्र चुना जिसे उनके सिवाय—कम से कम उस समय—कोई छूने का साहस भी नहीं कर सकता था। यद्यपि यह कथानक प्राचीन था तथापि उस प्राचीनता में ऐसी नवीनता उत्पन्न कर देना कि नवीनता ही ध्येय की वस्तु बन जाए और प्राचीनता की ओर से लोग उदासीन-से होकर कहने लगें कि भाई इस नवीनता में प्राचीन और नवीन सब कुछ आ गया है अब हमें कुछ और नहीं चाहिए; तुलसीदास जी का ही काम था। वाल्मीकि रामायण अध्यात्म रामायण हनुमन्नाटक प्रसन्नराघव और श्रीमद्भागवत तथा अन्य अनेक ग्रन्थों से उन्होंने अपने काव्य की सामग्री जुटाई और उसे ऐसा रूप दिया कि कोई पहचान न सके कि इसमें कितनी नवीनता है और कितनी प्राचीनता। उन्होंने एक प्राचीन कथा को लेकर उसे ऐसा रूप दिया कि वह उनकी कल्पना और कला से और भी भव्य हो गई।

कथा के अतिरिक्त कवि की दूसरी विशेषता है उस कथा के अंतर्गत ऐसे मार्मिक स्थलों का चुनाव कर लेना जिनसे कि कवि को अपनी भावुकता के प्रदर्शन के लिए पर्याप्त अवसर मिले। तुलसीदास जी ने ऐसे अवसर ढूंढ निकालने में बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया है। उन्होंने इसके लिए स्थान-स्थान पर कथा में हेर-फेर किया है परन्तु उस हेर-फेर से कथा की सौंदर्य-वृद्धि ही हुई है हानि नहीं। राम का अयोध्या-त्याग और वन-गमन चित्रकूट में भरत और राम का मिलन वन में सीता हरण के बाद राम का विलाप लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का साधारण मनुष्य की भांति रोना और पश्चात्ताप करना भरत का सिंहासन पर राम की पादुकाएं रखकर स्वयं उदास चित्त से राम के आगमन की प्रतीक्षा करना आदि स्थल ऐसे हैं जहां तुलसीदास जी को अपनी भावुकता दिखाने का पूरा अवसर मिला है।

वन-गमन के प्रसंग में ग्राम-वधुओं का चित्रण भावुकता की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि का है। 'मानस' 'कवितावली' और 'गीतावली'—सभी में

उन्होंने इस दृश्य का सहृदयता से वर्णन किया है। इस दृश्य में ग्राम वधुओं की सरलता और भोलेपन का जो चित्रण गोस्वामी जी ने किया है, वह अन्यत्र नहीं मिल सकता। स्त्रियाँ उन सुन्दर राजकुमारों के साथ एक अतीव सुन्दरी को वन में देखकर विधि की विडम्बना पर सोचती हैं और परस्पर कहती हैं कि वह रानी बड़ी अज्ञान है और उसका हृदय पत्थर से भी कठोर है। राजा भी नासमझ है जिसने स्त्री की बात पर ध्यान दिया। ऐसी सुन्दर मूर्तियों से बिछुड़कर प्रियजन (माता-पिता परिवारी जन और नगर-निवासी) कैसे जीते होंगे! हे सखी ये आँखों में रखने योग्य हैं इन्हें वनवास कैसे दे दिया?[1] इस भोलेपन के ऊपर, इस सरलता के ऊपर सारा ज्ञान सारा विज्ञान निछावर है। तुलसीदास की भावुकता यहाँ पंख लगाकर उड़ी है।

चित्रकूट में जो सभा आयोजित की गई है उसमें पारिवारिक और सामाजिक मर्यादा का आदर्श उन्होंने उपस्थित किया है। भरत ने उस सभा में जो भ्रातृ-सरिता प्रवाहित की है, उसमें समस्त जड़-चेतन डूब गए हैं। वह वातावरण बड़ा गम्भीर है। कैकेयी के परिताप की तो सीमा ही नहीं है। उसकी ग्लानि का जो चित्रण तुलसीदास जी ने किया है वह अत्यन्त मार्मिक है। सीता जी के साथ दोनों सरल भाइयों को देखकर 'कुटिल' कैकेयी जी भर कर पछता रही है और सोचती है कि पृथ्वी फट जाए तो वह उसमें समा जाए लेकिन जब वह पृथ्वी और यम से इसकी याचना करती है तब न तो पृथ्वी फटती है न मृत्यु ही आती है।[2] कैसी विधि-विडंबना है इस अभागिनी रानी के जीवन में! राम का तो कहना

१—रानी मैं जानी अजानी महा पबि पाहन हू ते कठोर हियो है।
राजहु काज अकाज न जान्यो कह्यो तिय को जिन कान कियो है॥
ऐसी मनोहर मूरति ये बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है।
आँखिन में सखि राखिबे जोग इन्हें किमि कै बनबास दियो है॥

२—लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥
अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई॥

ही क्या है। वे तो ऐसे सौम्य और शीलवान हैं कि चित्रकूट की वह सभा उनके प्रभाव से स्वर्गीय हो उठी है। आचार्य शुक्ल जी ने इस सभा को 'आध्यात्मिक' घटना कहा है। यह उचित ही है क्योंकि धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना अन्यत्र नहीं देखी जा सकती। राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र, पिता और पुत्री, श्वसुर और जामाता, सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण और शूद्र, सभ्य और असभ्य के परस्पर व्यवहारों का उपस्थित प्रसंग के धर्म गाम्भीर्य और भावोत्कर्ष के कारण अत्यन्त मनोहर रूप प्रस्फुटित हुआ है।

रामचन्द्र की सीता-हरण पर जब विरह-व्याकुल होकर 'खग-मृग' और 'मधुकर-श्रेनी'[1] से सीताजी का पता पूछते हैं तब कौन सहृदय होगा जो उनके आँसुओं में अपने हृदय के रस को न मिलाए। विरह की उस कातर पुकार के कारण मानव-हृदय अपने प्रभु को अपने निकट पाता है। राम का यही विलाप क्यों, उससे भी अधिक आप लक्ष्मण को शक्ति लगने का प्रसंग लीजिए। भाई की मृत्यु पर वे विकल हो रहे हैं, रो रहे हैं, परन्तु वहाँ ध्यान है तो अपने शरणागत बन्धु विभीषण का। उनकी इस दशा पर कौन हृदय की पीड़ा की धारा को रोक सकता है—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको।
सुनु सुग्रीव साँचेहूँ मो पर फेर्यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर संकट हौं तज्यो लखन सो भ्राता।
गिरि कानन जैहैं साखामृग हौं पुनि अनुज सँघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥
तुलसी सुनि प्रभु बचन भालु कपि सकल बिकल हिय हारे।
जामवंत हनुमंत बोलि तब औसर जानि प्रचारे॥

ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनमें कवि-कुल-गुरु तुलसी

१—हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥

की भावुकता का सार है। शृंगार की दृष्टि से तुलसी के काव्य का बहुत ही महत्त्व है। उन्होंने मर्यादा का वहाँ भी पालन किया है और ऐसा कौशल दिखाया है कि कवि की प्रतिभा पर आश्चर्य करना पड़ता है। सीता राम और लक्ष्मण वन जा रहे हैं। मार्ग में ग्राम-वधुएँ एकत्र हो जाती हैं, उनके दर्शनों के लिए। वे सीता जी से राम के विषय में पूछती हैं कि उनका उससे क्या संबंध है। सीता जी की उस समय की मनोदशा का सजीव चित्र खींचते हुए कवि ने लिखा है—

सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि॥

सीता के अतिरिक्त इतनी मर्यादा कहाँ मिल सकती है? ऐसे अनेक अवसरों पर तुलसीदास जी को अपने सिद्धांत की रक्षा के लिए न जाने कितने संयम से काम लेना पड़ा होगा? उनकी ही प्रतिभा से यह संभव हो सका कि सर्वत्र वे मर्यादा की रक्षा कर सके।

वस्तुतः तुलसीदास जी बड़े कुशल मनोवैज्ञानिक थे। मानव-प्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनों का अध्ययन उन्होंने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया था। यही कारण है कि उनके सभी पात्र अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं। राजा-प्रजा स्वामी-सेवक स्त्री-पुरुष माता-पिता पुत्र-पुत्रवधू सभी के आदर्श उनके पात्रों में सजीव हो गए हैं।

इसके अतिरिक्त वे रस-सिद्ध कवीश्वर थे। सभी रसों गुणों और काव्य की शैलियों के उदाहरण उनकी रचना में मिल सकेंगे। उनसे पहले काव्य की जितनी भी शैलियाँ प्रचलित थीं उन सब का उन्होंने उपयोग किया है। चारणों की छप्पय की शैली कबीर आदि की दोहे की शैली

जायसी की दोहा-चौपाई की शैली, विद्यापति, सूर आदि की पद-शैली, गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया शैली, सभी का उनकी रचना में समावेश है। अर्थ-अलंकारों का स्वाभाविक और प्रवाहानुकूल चयन स्वतः ही हो गया है। इस सब का कारण है—उनका भाषा पर अधिकार। गोस्वामी जी की भांति भाषा पर अधिकार रखनेवाले कवि बहुत कम हुए हैं। उनकी सरलता और लोकप्रियता का यह भी एक कारण है। ब्रज और अवधी में तो उन्होंने रचना की ही है, अन्य भाषाओं के शब्द भी अपने-आप उनमें आ गए हैं। वे शब्द हिंदी के ही हो गए हैं। गीतावली, कवितावली और विनय-पत्रिका आदि ब्रज भाषा की रचनाओं और रामचरितमानस, बरवै-रामायण, जानकी-मंगल आदि अवधी की रचनाओं में अरबी, फारसी के शब्द सैकड़ों ही मिल जाएँगे। उनकी अवधी भाषा जायसी की अपेक्षा अधिक संस्कृत है और उसमें अवधी का साहित्यिक रूप निखर आया है। तुलसीदास जी ने भाषा का ऐसा रूप रामचरितमानस में दे दिया कि फिर किसी कवि ने लेखनी उठाने का साहस न किया। भाषा ही क्या, विषय का भी उन्होंने ऐसा सम्यक् विवेचन किया है कि फिर कोई कवि उसपर उतने अधिकार के साथ लेखनी न उठा सका और केशव आदि ने साहस किया भी तो वह बात न आ पाई जो तुलसीदास में थी। उन्होंने काव्य-कला की भी चरम परिणति अपने काव्य में कर दी। उनसे पहले शुद्ध साहित्य-निर्माण बहुत कम हो पाया था। चारण-काल में तो काव्य की भाषा का रूप ही स्थिर नहीं हो पाया था। सन्त-साहित्य में केवल ईश्वर की वन्दना और छायावादी ढंग पर संकेतात्मक प्रक्रिया ही अधिक रही, जिसमें साहित्य की ओर ध्यान कम था। कृष्ण-काव्य में अभी साहित्यभाषा का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ था। अतः तुलसी द्वारा ही साहित्य की समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हुआ।

सारांश यह है कि तुलसीदास जी महान् स्रष्टा थे। साहित्य के लिए

मानव-हृदय की जिस गहरी भावुकता की आवश्यकता है वह उन्हें प्राप्त थी इसीलिए वे मनस्तत्त्व के भावों के सूक्ष्म चितेरा हो सके। वे भावों के पुजारी थे और यह भाव-पूजा उन्हें राम के प्रति अनन्य विश्वास से मिली थी। राम के प्रति उनका प्रेम-विश्वास चातक की भाँति दृढ़ था। ऐसे अनन्य भावुक उपासक के हृदय से फूटी वाणी में ही वह शक्ति हो सकती थी जो मृत-प्राय जाति को बल प्रदान कर उसके शुष्क और निराश जीवन में सजीवता और सरसता लावे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने गोस्वामी तुलसीदास नामक ग्रन्थ में तुलसीदास जी को प्रतिनिधि कवि मानते हुए हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया है और कहा है "तुलसी के 'मानस' से रामचरित की जो शील-शक्ति-सौंदर्यमयी स्वच्छ धारा निकली उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिंब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवन-व्यापकता ने उनकी वाणी को राजा रंक धनी-दरिद्र मूर्ख-पंडित सब के हृदय और कंठ में सब दिन के लिए बसा दिया। किसी श्रेणी का हिंदू हो वह अपने जीवन में राम को साथ पाता है। सम्पत्ति में विपत्ति में घर में वन में रणक्षेत्र में आनन्दोत्सव में जहाँ देखिए वहाँ राम। गोस्वामीजी ने उत्तरापथ के समस्त हिंदू-जीवन को राममय कर दिया। गोस्वामी जी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिंदू-जनता अवसर के अनुकूल सौन्दर्य पर मुग्ध होती है महत्त्व पर श्रद्धा करती है शील की ओर प्रवृत्त होती है सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य धारण करती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है दया से आर्द्र होती है, बुराई पर ग्लानि करती है शिष्टता का अवलम्बन करती है और मानव-जीवन में महत्त्व का अनुभव करती है।"

आचार्य की इस सम्मति से हम अक्षरशः सहमत हैं। हमारी दृष्टि में भी तुलसीदास का स्थान हिन्दी-साहित्य में सर्वोत्कृष्ट है और वे हमारे साहित्य

के प्रतिनिधि कवि हैं जिनकी जीवन में सभी क्षेत्रों तक पूरी-पूरी पहुंच है। उनमें भारतवर्ष का भूत वर्तमान और भविष्य झांकता है। वे हमारे साहित्य के शृंगार हैं और हम उन्हें पाकर गौरवान्वित हैं। वे यशस्वी और अमर कलाकार हैं और जब तक हिंदी भाषा और साहित्य जीवित है तुलसीदास की वाणी भी जीवित है वह अजर-अमर है।

डॉ पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

२

तुलसी-साहित्य में उनके जीवन का प्रतिबिम्ब

साहित्य की सर्वमान्य परिभाषाओं में मैथ्यू आर्नल्ड की परिभाषा 'साहित्य जीवन की व्याख्या है' का विशेष महत्त्व है। वस्तुतः जब साहित्यकार साहित्य-सृजन के लिए तैयार होता है तब वह अपने व्यक्तित्व को विश्व में लय कर देता है और उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति—दोनों विश्व की अनुभूति और अभिव्यक्ति का गौरवपूर्ण पद प्राप्त कर लेती हैं। जो साहित्यकार जितना ही महान् होगा उसका व्यक्तित्व उतना ही व्यापक और विस्तृत होता चला जाएगा। उसके द्वारा प्रस्तुत कृतियों में उसे खोज पाना सरल भी होगा और कठिन भी। सरल तो इसलिए कि उसकी अपनी अभिव्यक्ति-प्रणाली विशिष्टता लिए हुए होने के कारण स्वप्न में भी व्यक्ति की पकड़ से बाहर नहीं हो सकती और कठिन इस लिए कि कोई विचार या भाव जो उसके काव्य में किसी पात्र-विशेष या अवसर विशेष पर अभिव्यंजित हुआ है निश्चित रूप से उसीका है यह कहना एकदम सही नहीं भी हो सकता है। सारांश यह कि श्रेष्ठ साहित्यकार अपनी वैयक्तिक इच्छा-अभिलाषा को विश्वबन्धुत्व अथवा विश्वकल्याण की भावना में लय कर देता है इसलिए उसके साहित्य में उससे सम्बन्धित बातों की खोज करना अत्यन्त कठिन और दुस्साहस का कार्य है।

विश्व के महानतम साहित्यकारों के व्यक्तिगत जीवन और चरित्र के सम्बन्ध में आज तक साहित्य के अध्येता अन्धकार में ही हैं। इसका

एकमात्र कारण यही है कि उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित तथ्यों का प्रकाशन या तो किया ही नहीं है और यदि किया भी है तो इतनी न्यून मात्रा में कि उस आधार पर उनके जीवन की कोई ठोस रूपरेखा निर्मित नहीं हो सकती। ऐसे निजी उल्लेखों के अभाव में उनकी ख्याति और महत्ता का लाभ उठाकर अनेक जनश्रुतियां प्रचलित होती गई हैं और कल्पित जीवनचरित लिखे जाते रहे हैं। इससे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ने की अपेक्षा अनेक भ्रान्तियों ने जन्म लिया है, जिससे उनके जीवन का कृतियों के आधार पर प्राप्त वास्तविक विवरण भी धुंधला हो गया है। उनके जन्म-स्थान, जन्म-संवत्, गुरु, पारिवारिक जीवन, मृत्यु-तिथि आदि के विषय में एक नहीं अनेक मत प्रचलित हो गए हैं। चामत्कारिक प्रसंगों ने तो उनकी रही-सही प्रामाणिकता को भी चौपट कर दिया है। विश्व के इन्हीं साहित्यकारों में होमर, गेटे, दान्ते, शेक्सपियर, मिल्टन, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि में से कौन ऐसा है जो भ्रान्तियों के घटाटोप के नीचे न दबा हो। इन ऋषि-तुल्य मनीषियों ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि उनकी विनम्रता और आत्म-निषेध की महान् प्रवृत्ति का यह दुष्परिणाम होगा अन्यथा वे भी आज के ऐरे, गैरे, नत्थू खैरे कवियों की भांति ही पृष्ठ की रचना में अपना पचास पृष्ठ का वक्तव्य जोड़ने की कला को अवश्य अपनाते। हिन्दी के ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं के मध्यकालीन कवियों के जीवन की घटनाएं भी इसी प्रकार अनिश्चित हैं—चण्डीदास, विद्यापति, तुकाराम, कबीर, सूर, तुलसी कौन सा ऐसा कवि है जो इस कठिनाई से मुक्त हो और अपने विषय में आज के पाठक को सही जानकारी दे सके!

तो फिर ऐसे मानव-विभूतियों का जीवन क्या दन्तकथाओं और कल्पित चरित्रों से ही जाना जा सकता है? यह प्रश्न है जो किसी भी आस्थावान् अध्येता को चिन्तित किए बिना नहीं छोड़ता। हमारी विनम्र सम्मति में इसका उत्तर यह है कि कवि अथवा कलाकार अपनी कृतियों में बराबर प्रतिबिम्बित होता रहता है। सच्चे साहित्यकार का जीवन

उसके साहित्य से भिन्न नहीं हो सकता। हिन्दी म महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जीवन इस दृष्टि से विचारणीय है। उनका साहित्य उनके जीवन की एक-एक घटना को मुखर कर देता है फिर वह चाहे 'सरस्वती'-सम्पादक द्वारा उनकी प्रथम और सर्वश्रेष्ठ रचना 'जुही की कली' असम्यवाद वापिस कर देने की बात हो या अपनी प्यारी बेटी सरोज की उचित उपचार के अभाव मे मृत्यु हो जाने की या गांधी जी के समक्ष हिन्दी का पक्ष लेकर तनकर खड़े होने की। ब्रज-कोकिल प सत्य नारायण 'कविरत्न ने अपनी आधुनिका पत्नी का लक्ष्य करके ही 'बस अब नहिं जात सही' अथवा 'भयो क्यों अनचाहत को संग' जैसी रचनाए की थी। कबीर की सहज साधना जिस स्तर पर सिद्धि की प्राप्ति के रूप मे सफल हुई थी वह उनकी कविता म पारदर्शी शीशा बन गई है। सनातन और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के जीवन के मूल मार्मिक तथ्यो का उद्घाटन उनकी रचनाओ द्वारा ही हुआ है। प्रेमचन्द तो अपनी रचनाओ और जीवन-विकास के क्रम मे समानान्तर ही चलते दिखाई देते है। कहने का अभिप्राय यह कि सच्चे साहित्यकार की रचनाए उसके जीवन की अनेक मूल्यवान् बातो की ओर सकेत करती रहती है। महाकवि तुलसी के विषय मे भी यह कथन अक्षरश सत्य है।

देखना यह है कि तुलसी-साहित्य मे उनके जीवन का प्रतिबिम्ब किस-किस रूप म पड़ा है। सुविधा की दृष्टि से हम उसे दो भागों मे विभाजित करेंगे—एक प्रत्यक्ष और दूसरा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष से अभिप्राय उनके द्वारा अपने जन्म माता-पिता गुरु-जनक रोग-शोक आनन्द उत्साह रुचि-अरुचि मृत्यु आदि के सम्बन्ध मे स्पष्ट कथन से है और अप्रत्यक्ष से अभिप्राय उन सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक सूत्रो से है जिन्हे पकड़कर उन्होंने अपने काव्य का भव्य भवन खड़ा किया है। यद्यपि अप्रत्यक्ष का अक्षरश सम्बन्ध उनके जीवन से नहीं है क्योंकि विषय विशेष पर व्यक्त विचार किसी पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र के भी हो सकते हैं तथापि उनकी अभिरुचि के स्पष्टीकरण वाले ऐसे अनेक स्थल

एकमात्र कारण यही है कि उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित तथ्यों का प्रकाशन या तो किया ही नहीं है और यदि किया भी है तो इतनी न्यून मात्रा में कि उस आधार पर उनके जीवन की कोई ठोस रूपरेखा निर्मित नहीं हो सकती। ऐसे निश्चित उल्लेखों के अभाव में उनकी ख्याति और महत्ता का लाभ उठाकर अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित होती गई हैं और कल्पित जीवनचरित लिखे जाते रहे हैं। इससे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ने की अपेक्षा अनेक भ्रान्तियों ने जन्म लिया है जिससे उनका जीवन का कृतियों के आधार पर प्राप्त वास्तविक विवरण भी धुंधला हो गया है। उनके जन्म-स्थान, जन्म-संवत्, गुरु, पारिवारिक जीवन, मृत्यु-तिथि आदि के विषय में एक नहीं अनेक मत प्रचलित हो गए हैं। चामत्कारिक प्रसंगों ने तो उनकी रही-सही प्रामाणिकता को भी चौपट कर दिया है। विश्व के कृती साहित्यकारों में होमर, गेटे दाँते शेक्सपियर, मिल्टन वाल्मीकि व्यास कालिदास आदि में से कौन ऐसा है जो भ्रान्तियों के पटाटोप के नीचे न दबा हो। इन ऋषि-तुल्य मनीषियों ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि उनकी विनम्रता और आत्म-निषेध की महान् प्रवृत्ति का यह दुष्परिणाम होगा अन्यथा वे भी आज के ऐरे, गैरे, नत्थू, खैरे कवियों की भांति ही पृष्ठ की रचना में अपना वक्तव्य पृष्ठ का वक्तव्य जोड़ने की कला को अवश्य अपनाते। हिन्दी के ही नहीं अन्य प्रान्तीय भाषाओं के मध्यकालीन कवियों के जीवन की घटनाएं भी इसी प्रकार अपरिचित हैं—चण्डीदास विद्यापति तुकाराम कबीर, सूर, तुलसी कौन सा ऐसा कवि है जो इस कठिनाई से मुक्त हो और अपने विषय में आज के पाठक को सही जानकारी दे सके ?

तो फिर ऐसे मानव-हितैषियों का जीवन क्या दन्तकथाओं और कल्पित चरित्रों से ही जाना जा सकता है ? यह प्रश्न है जो किसी भी न्यायाधारात् समीक्षा को विचार किए बिना नहीं छोड़ता। हमारी विनम्र सम्मति में इसका उत्तर यह है कि कवि अथवा कलाकार अपनी कृतियों में बराबर प्रतिबिम्बित होता रहता है। सच्चे साहित्यकार का जीवन

उसके साहित्य से भिन्न नही हो सकता। हिन्दी मे महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जीवन इस दृष्टि से विचारणीय है। उनका साहित्य उनके जीवन की एक-एक घटना को मुखर कर देता है फिर वह चाहे 'सरस्वती'-सम्पादक द्वारा उनकी प्रथम और सर्वश्रेष्ठ रचना 'जूही की कली' सधन्यवाद वापिस कर देने की बात हो या अपनी प्यारी बेटी सरोज की उचित उपचार के अभाव मे मृत्यु हो जाने की या गाधी जी के समक्ष हिन्दी का पक्ष लेकर तनकर खडे होने की। व्रज-कोकिल प सत्य-नारायण 'कविरत्न' ने अपनी आधुनिका पत्नी को लक्ष्य करके ही 'कछु भव नहि बात रही' अथवा 'भयो क्यों अनचाहत को सग' जैसी रचनाए की थी। कबीर की सहज साधना जिस स्थान पर सिद्धि की प्राप्ति के रूप म सफल हुई थी वह उनकी कविता मे पारदर्शी लीला बन गई है। घनानन्द और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के जीवन के मूल मार्मिक तथ्यो का उद्घाटन उनकी रचनाओ द्वारा ही हुआ है। प्रेमचन्द तो अपनी रचनाओ और जीवन विकास के क्रम मे समानान्तर ही चलते दिखाई देते है। कहने का अभिप्राय यह कि सच्चे साहित्यकार की रचनाए उसके जीवन की अनेक मूल्यवान् बातो की ओर सकेत करती रहती है। महाकवि तुलसी के विषय मे भी यह कथन अक्षरश सत्य है।

देखना यह है कि तुलसी-साहित्य मे उनके जीवन का प्रतिबिम्ब किस-किस रूप मे पडा है। सुविधा की दृष्टि से हम उसे दो भागों मे विभाजित करेंगे—एक प्रत्यक्ष और दूसरा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष से अभिप्राय उनके द्वारा अपने जन्म माता-पिता गुरु-स्वजन रोग-शोक आनन्द उल्लास रुचि-अरुचि मृत्यु आदि के सम्बन्ध मे स्पष्ट उल्लेख से है और अप्रत्यक्ष से अभिप्राय उन सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक भूमा से है जिन्हे पकडकर उन्होंने अपने काव्य का भव्य भवन खडा किया है। यद्यपि अप्रत्यक्ष का अक्षरश सम्बन्ध उनके जीवन से नही है क्योकि विषय विशेष पर व्यक्त विचार किसी पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र के भी हो सकते है तथापि उनकी अभिरुचि के स्पष्टीकरण वाले ऐसे अनेक स्थल

हो सकते हैं, जिनमें वह स्वयं मूर्त हो उठे हों। किसी पूर्वप्रयुक्त कथा तत्त्व को अपनी दृष्टि से परिवर्तित कर देने में भी उनकी निजी रुचि प्रवृत्ति ही मूल प्रेरक शक्ति रही है। अतः अप्रत्यक्ष रूप से जीवन का प्रतिबिम्ब भी उल्लेख्य है। बिना उसके उनके जीवन की सम्पूर्णता का दर्शन नहीं हो सकेगा। शरीर के साथ आत्मा का सौन्दर्य जैसे सौन्दर्य की परिपूर्णता है वैसे ही जीवन की स्थूल घटनावली के साथ भावों का सौन्दर्य किसी साहित्यकार के जीवन-सौन्दर्य की परिपूर्णता है।

सर्वप्रथम हम उनके जीवन के प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब पर दृष्टिपात करेंगे। इस दृष्टि से उनके लिखे हुए बारह सर्वमान्य प्रामाणिक ग्रन्थों में से चार का विशेष महत्त्व है—कवितावली, विनयपत्रिका, दोहावली और रामचरितमानस। जैसा कि हम आगे देखेंगे इन ग्रन्थों से उनके जीवन की अनेक बातों पर प्रकाश पड़ता है।

महात्मा तुलसीदास का नाम था तो रामबोला या था तुलसी। 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' की साखी के आधार पर उनका नाम रामबोला जान पड़ता है।[1] लेकिन बरवै रामायण के आधार पर उनका नाम तुलसीदास आरम्भ से ही मिलता है।[2] रामचरितमानस की एक अर्धाली में जहाँ उनकी माता का नाम हुलसी दिया है वहाँ भी उनका

१—(क) राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।
—विनयपत्रिका पद ७६

(ख) साहिब सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो
रामबोला नामु हौं गुलामु रामसाहि को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द १

२—केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास।
राम जपत भये तुलसी तुलसीदास।
—बरवै रामायण, छंद ११

नाम तुलसीदास पाया है।[1] इस प्रकार उनको अनेक ग्रंथो के आधार पर रामबोला या तुलसीदास दो नामो से ही पुकारा जाता था। आरम्भ में राम की भक्ति के प्रति रुचि होने से रामबोला नाम पड़ा होगा और बाद म वे तुलसीदास कहलाए होंगे।

तुलसीदास के साथ गुसाईं जुड़ने के सम्बन्ध मे हनुमानबाहुक में लिखा है कि तुलसीदास गुसाईं होकर के अपने बुरे दिनो को भूल गया है।[2] साथ ही कवितावली म भगवान् से प्रार्थना करते हुए उन्होंने कहा है कि आज तक तो नाम से निर्वाह हो गया है और आगे गुसाईं का स्वामी उनकी रक्षा करेगा।[3] विनयपत्रिका म भी गुसाईं शब्द प्रयुक्त हुआ है।[4]

महात्मा तुलसीदास के ग्रंथो मे अपने माता-पिता के विषय मे विशेष नहीं लिखा गया। केवल एक अर्द्धाली प्रयुक्त की जाती है, जिसके आधार पर उनकी माता का नाम हुलसी कहा जाता है। मानस के बालकाण्ड म रामकथा की महिमा का वर्णन करते हुए उन्होंने "रामहि प्रिय पावन तुलसी सी। तुलसिदास हित हियँ हुलसी सी॥" लिखकर इसी ओर संकेत किया है। मानस के इस साक्ष्य का समर्थन उनके समकालीन और स्नेही

१—रामहि प्रिय पावन तुलसी सी।
तुलसिदास हित हियँ हुलसी सी।

—रामचरितमानस, बालकाण्ड

२—तुलसी गोसाईं भयो भोंड़े दिन भूलि गयो।

—हनुमानबाहुक छन्द ४

३—साहबै प्रताप नाम प्रभाव। निबहि नीके
आगे को गोसाईं स्वामी सबल सुजान है।

—कवितावली, उत्तरकाण्ड छन्द ८०

४—मेरे मन को गुसाईं पोच को न सोच संक
तैसे किये कहा मेरे मोसी भिन पाव की।

—विनयपत्रिका छन्द ९२

मित्र खानखाना अब्दुर्रहीम ने भी किया है।[1] इसके अतिरिक्त और कोई उल्लेख नहीं मिलता।

अपनी माता को छोड़कर अन्य परिवारी जनों—पिता पत्नी या पुत्रादि—के विषय म तुलसीदास जी ने अपने ग्रन्थो मे कोई बात नही लिखी अत आज तक विद्वान् और मानस प्रेमी इस दिशा मे अंधकार म ही है। हा उन्होंने अपने गुरु के विषय मे अवश्य मानस के आरम्भ मे यह कहा है कि उनके गुरु नरहरिदास जी थे।

'तुलसी-दर्शन' के लेखक डा बलदेवप्रसाद मिश्र ने इस विषय म टिप्पणी करते हुए लिखा है—

"हमारी समझ म गोस्वामी जी ने किसी अनित्य मर्त्य के बदले एक नित्य को ही अपना सच्चा गुरु माना है। 'वन्दे बोधमय नित्य गुरु शकर रूपिणम्' का नित्य शब्द यही सकेत कर रहा है। नरहरिदास की अनुपस्थिति म भी गोस्वामी जी गुरु-प्रवरक से अपने लोचन मानने की बात लिखते है। उन्होने स्पष्टतया नरहरिदास जी या और किसी नामधारी व्यक्ति को अपना गुरु भी स्वीकार नही किया है। रामचरित मानस म केवल एक जगह 'बन्दउँ गुरु पद कज कृपा सिन्धु नररूपहरि' लिखा हुआ मिलता है। जिससे नरहरिदास का नाम ध्वनित हो रहा है। परन्तु इस पक्ति का 'हरि' पाठ भी सदिग्ध ही कहा जाता है क्योकि एक तो उस स्थान के सब सोरठा के रूप के अनुसार 'निकर' के साथ 'हर' का तुक होना चाहिए न कि 'हरि' का और दूसरे, सावण कुञ्ज मे रखी हुई बालकाड की प्राचीन प्रति म कहा जाता है 'हर' पाठ ही था जो पीछे हरताल लगाकर 'हरि' के रूप मे परिवर्तित किया गया है। इन सब बातो से विदित होता है कि रामकथन की महिमा के प्रथम प्रचारक

१—सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहत अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय॥

२—बन्दउँ गुरु पद कज कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
—रामचरितमानस बालकाण्ड

के नाते भगवान् शंकर ही को गोस्वामी जी अपना वास्तविक गुरु मान रहे हैं। यद्यपि उन्होंने अपने बाल्यकाल के उपदेशक को भी जो बहुत करके कोई स्मार्त वैष्णव स्वामी नरहरिदास जी थे उस अनमोल शिक्षा ही के नाते 'निज गुरु' का आदर दे दिया है।"

तुलसीदास जी का जन्मस्थान शूकर क्षेत्र या सोरों था यह बात अन्तःसाक्ष्य से सिद्ध होती है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है—

> मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सु सूकर खेत।
> समुझी नहिं तस बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥

हिन्दी के वे विद्वान् जो तुलसी पर काम करते रहे हैं राजापुर (बांदा) को उनकी जन्मभूमि मानते रहे हैं परन्तु यह हठधर्मी है। निश्चय ही वे सोरों (शूकर क्षेत्र) के निवासी थे। श्री रामदत्त भारद्वाज ने 'तुलसी का परिवार नामक'[1] पुस्तक में अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि सोरों ही तुलसी की जन्मभूमि थी।

महात्मा तुलसीदास जी की जाति के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कोई उन्हें सरयूपारी कोई सनाढ्य और कोई कनौजिया बताते हैं। स्वयं तुलसीदास जी ने इस विषय में जो कुछ लिखा है वह परस्पर-विरोधी कथन सा प्रतीत होता है। कभी तो वे कहते हैं कि मेरी कोई जाति-पाँति नहीं है और न मैं किसीके काम का हूं और न कोई मेरे काम का है।[2] कभी कहते हैं कि लोग यदि मुझे बुरा कहते हैं तो कहा करें मुझको इसका कोई दुःख नहीं है क्योंकि न तो मुझे ब्याह-शादी करनी है न मैं

१—नेशनल इन्फार्मेशन ऐण्ड पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई से प्रकाशित इस पुस्तक में विस्तार से गोस्वामी तुलसी की जन्मभूमि पर विचार किया गया है।

२—मेरें जाति पाँति न चहौं काहूकी जाति पाँति
मेरे कोऊ काम को न हौं काहूके काम को।
—कवितावली उत्तरकाण्ड, छन्द १०७

जाति-पाँति ही चाहता हूँ।'[1] कभी वे कहते हैं कि मैं तो भिखारी के कुल में जन्मा हूँ और मेरे जन्म से ही माता-पिता दुःखी हो उठे थे।'[2] कभी वे यहाँ तक कह उठते हैं कि 'मुझे कोई धूर्त कहो या अवधूत कहो राजपूत कहो या जुलाहा कहो मुझे कौन किसीकी बेटी से बेटा ब्याहना है जो किसीकी जाति बिगाड़ने का पाप लगेगा। मैं तो राम का गुलाम हूँ। जिसे जो रुचे सो कहो मैं तो माँगकर खाता हूँ और मसजिद में सोता हूँ। न लेना एक न देना दो।'[3] इन सब से ऐसा प्रतीत होता है, वे छोटे कुल में जन्मे थे। लेकिन जब वे यह कहते हैं कि 'भलि भारत भूमि भले कुल जन्मु, समाजु, सरीर भलो लहि कै'[4] या 'यह भरतखंड समीप सुरसरि, थल भलो संगति भली'[5] या 'दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को'[6] तो लगता है कि वास्तव में वे उच्च कुल में जन्मे थे और लोगों से परेशान होकर ऐसी बातें करते थे जिससे वे सब से अलग समझे जाएँ। आज भी जब कोई व्यक्ति, चाहे वह कितने ही ऊँचे कुल में जन्मा हो अपने समाज से भिन्न पथ अपनाता है और कुछ प्रतिष्ठा

१—लोग कहैं पोच सो न सोच न संकोच मेरे
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।
—विनयपत्रिका छन्द ७६

२—जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि
भयो परिताप पापु जननी जनक को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द ७३

३—धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलामु है राम को जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लैबे को एक न दैबे को दोऊ॥
—कवितावली, उत्तरकाण्ड छन्द १०६

४—कवितावली
—उत्तरकाण्ड, छन्द ३३

५—विनयपत्रिका
छन्द १३५

६— ”
”

प्राप्त कर सका है तो लोग उसे ईर्ष्यावश बुरा-भला कहते हैं। वह उन लोगों को सफाई न देकर ऐसी ही बातें करता है, जिससे अपने को रूढ़िवादी समाज से अलग करके गर्व के साथ खड़ा रह सके। महात्मा तुलसीदास ने भी समाज के लोगों के प्रहार सहे थे और उनसे अपने को बचाने के लिए ही ऐसी बातें कही थीं अन्यथा वे उच्च ब्राह्मण कुल में ही उत्पन्न हुए थे। वह सारा ब्राह्मणवाद जिसके लिए आज के तथाकथित प्रगतिवादी उन्हें पानी पी-पीकर कोसते हैं और जिसपर वर्णाश्रम संस्कृति का महल खड़ा है इनके ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने का सबसे बड़ा प्रमाण है।

लेकिन तुलसीदास जी भले ही उच्च कुल में जन्मे हों उनका बाल्य काल अत्यन्त दुःखमय बीता। ऐसा लगता है कि उनके माता-पिता ने उनको जन्म होते ही छोड़ दिया था और उन्होंने जाति-कुजाति के टुकड़े खा-खाकर अपने को जीवित रखा था।[1] ऐसी दशा में उनको द्वार-द्वार दैन्य-प्रदर्शन करना पड़ा और चार चनों को चार फल मानना पड़ा। उनकी स्थिति यह थी कि उन्होंने कौड़ी भर अन्न मांगकर खाया था और

१—(अ) मातु पिता जग जाय तज्यो विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर, कूकर-टूकन लागि ललाई॥
—कवितावली, उत्तरकांड, छन्द ५७

(आ) तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हू।
—विनयपत्रिका छन्द २७५

(इ) जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस
खाये टूक सबके विदित बात दुनी सो।
—कवितावली, उत्तरकांड छन्द ७२

२—द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
—विनयपत्रिका छन्द २७५

३—बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानत हौ चारि फल चारि ही चनक को।
—कवितावली उत्तरकांड छन्द ७३

जनश्रुति या बाहरी साक्ष्य का आधार नहीं ले सकते। वह हमारे विषय के बाहर की बात होगी। हमें तो उनके ग्रन्थों से ही उनके जीवन की प्रत्येक गतिविधि पर प्रकाश डालना है। अस्तु।

यदि हम रामचरितमानस या तुलसी की विनयपत्रिका अथवा कवितावली के उत्तरकांड को गम्भीरता से देखें तो पता चलेगा कि गार्हस्थ्य-धर्म और वैराग्य का जैसा वैज्ञानिक चित्र उन्होंने अंकित किया है वैसा और कोई कवि कर ही नहीं सका। इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने गृहस्थ-जीवन के उतार चढ़ाव देखे थे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शृंगार के जिस मर्यादावादी स्वरूप का उद्घाटन राम-सीता के प्रसंग में हुआ है अथवा 'जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी' की जो स्पष्टोक्ति वर्षा-वर्णन में आई है वह उनके गृहस्थ जीवन और नारी के प्रति अत्यधिक आकर्षण के परिणामस्वरूप किए गए महत्त्व की प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वैसे उन्होंने 'हम तो चाखा प्रेमरस पत्नी के उपदेश' कहकर इसे स्वीकार कर लिया है कि उन्होंने विवाह किया था। 'हनुमानबाहुक' में उन्होंने यह भी कहा है कि बचपन में सरल स्वभाववश राम की शरण में चला गया था पर मोहवश उस सम्बन्ध को तोड़ बैठा[1] और यों राम विमुख हो गए। अपनी इस आत्मग्लानि का और भी अच्छा स्पष्टीकरण उन्होंने विनयपत्रिका में किया है। वे कहते हैं कि कुछ भी न बन आया और जन्म व्यर्थ ही बीत गया। अत्यन्त दुर्लभ नर-जन्म मिला पर मन-वचन-कर्म से राम की भक्ति न कर सका। लड़कपन अचेतावस्था और चंचलता में चला गया। यौवन-रूपी ज्वर में युवती-रूपी कुपथ्य का सेवन किया इससे त्रिदोष पूर्ण काम-वायु ने घर

१—बालपन सूधे मन राम सनमुख भयो
राम नाम लेत मांगि खात टूक टाक हौं।
परयो लोक रीति मैं पुनीत प्रीति राम राय
मोह बस बैठो तोरि तरकि तराक हौं॥

—हनुमानबाहुक छन्द ४

दबाया।[1] जाति-पाँति को अस्वीकार करने की उनकी वृत्ति भी गृहस्थ जीवन के झंझटों की ही सूचक है।

यों तो तुलसीदास की परिस्थिति ही विरक्त होने की थी पर वे मोह में फँस ही गए, यह हम देख चुके हैं। एक बार मोहग्रस्त होकर जब वे फिर बन्धन-मुक्त हुए तो ऐसे कि फिर राम के ही होकर रहे। भोग-विलास और विषय-वासना के पाश में फिर उन्हें कोई रस ही न रहा। गृहस्थ-जीवन का त्यागकर उन्होंने देश का पर्यटन किया और तीर्थों की खाक छानी। यह सब उनके अपार ज्ञान के आधारस्वरूप विविध ग्रंथों से स्पष्ट है। देश में उन्हें दो स्थान-विशेष प्रिय थे एक तो चित्रकूट और दूसरा काशी।

ऐसा प्रतीत होता है कि चित्रकूट में उनके प्राण बसते थे। विनय पत्रिका में उन्होंने अपने मन से कहा है कि तू अब चेत और चित्रकूट चल। ऐसे कलि-प्रभावित समय में यहाँ कल्याणपथ सुलभ है और मोह माया-वश बह रहा है रामपद अंकित इस पुण्यभूमि को देख। यह वन राम का विहार-स्थल है।[2] उनकी सम्मति में यदि राम से सच्चा स्नेह

१—प्रभु हैं न साथ परयो कम आय।
भनि दुरलभ तन पाइ कपट तजि
भजे न राम मन बचन काय।
लरिकाई बीती अचेत चित
चंचलता चौगुने चाय।
जोबन-जुर जुबती-कुपथ्य करि
भयो त्रिदोष भरि मदन बाय॥
—विनयपत्रिका, छन्द ८३

२—अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि लोपित मंगल मगु बिलसत बढ़त मोह माया मलु।
भूमि बिलोकु राम पद अंकित बन बिलोकु रघुबर बिहार थलु॥
—विनयपत्रिका, पद २४

चाहिए तो प्रेमपूर्वक चित्रकूट में निवास करना चाहिए। इसका कारण यह है कि व्यर्थ वन पर्वतों पर भटका बिना अग्नि के जला पर चित्रकूट आने पर ही कलियुग की कुचाल का दर्शन हो सका।[1] यहीं उनको अपने प्रभु की सरस झाँकी मिली।[3]

काशी तो कवि को अत्यधिक प्रिय ही थी। अपने जीवन का अंत समय उन्होंने काशी में ही बिताया और काशी में ही उनका शरीरान्त हुआ। उन्होंने काशी के विषय में कहा है कि कलियुग में कामधेनु के समान काशी में स्नेहसहित यथोचित रहना चाहिए,[4] जो पृथ्वी में मुक्ति की देने वाली है, ज्ञान की खान है और पापों को हरने वाली है। जहाँ शम्भु-भवानी रहते हैं, उस काशी में क्यों न रहा जाए।[5] काशी में रहते हुए महाकवि को रोग-शोक ने भी घेरा था। प्लेग का वर्णन करते हुए उन्होंने भगवान् शिव से प्रार्थना की है कि तुम्हारा यश सुनकर मैं यहाँ आया हूँ। अब मुझे या तो नीरोग करिए या मरकर काशी-वास

१—तुलसी जौ राम सों सनेहु साँचो चाहिए तौ
सेइये सनेह सों बिचित्र चित्रकूट सो।
—कवितावली, उत्तरकांड, छन्द १४१

—अनभल गिरि कानन फिर्यो बिनु आगि जर्यो हौं।
चित्रकूट गये हौं लखी कलि की कुचालि सब अब अपडरनि डर्यो हौं॥

३—तुलसी तो को कृपालु जो कियो कोसलपालु
चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करि सो।
—विनयपत्रिका छन्द २६४

४—सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी।
समनि सोक संताप पाप रुज सकल सुमंगल रासी॥
—विनयपत्रिका छन्द २२

५—मुक्ति जन्म महि जानि ग्यान खानि अघ हानि कर।
जहँ बस शम्भु भवानि सो कासी सेइय कस न॥
—रामचरितमानस

का सुयश प्राप्त करल दीजिए।[1] काशी की दुर्दशा से दुःखी होकर कवि भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि कलियुग ने काशी की कदर्थना कर डाली है।[2] इसलिए आप इसपर कृपा-कोर करके इसकी रक्षा कीजिए।[3] महामारी का वर्णन कवि ने बड़ा सजीव किया है। महामारी के कारण काशी के नर-नारी पशु-पक्षी सब विकल हैं। सारा नगर ही महामारी से ग्रस्त हो गया है। जन-जन मृत्यु से व्याप्त है।[4]

चित्रकूट और काशी के अतिरिक्त तीसरा स्थान अयोध्या था। जो कवि को प्रिय था। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरितमानस की रचना कवि

१—मेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर,
पाइ तर आइ रह्यो सुरसरि तीर हौं।
० ० ०
कलिजुग [illegible]
तुलसी [illegible]
[illegible]
[illegible]
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द [illegible]

२—हा हा करै तुलसी दयानिधान राम ऐसी
कासी की कदर्थना कराल कलि काल की।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द [illegible]

३—[illegible]
[illegible]
—दोहावली, दोहा [illegible]

४—संकर-सहर सर नर नारि बारिचर
बिकल सकल महामारी माँजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरि जात
भभरि भगात जल थल मीचुमई है।
देव न दयालु महिपाल न कृपालु चित
बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द [illegible]

ने अयोध्या में ही की थी। यह निम्नलिखित चौपाई से प्रकट है—

संवत सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा॥
नौमी भौम बार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

—रामचरितमानस बालकाण्ड

कवितावली में उत्तरकाण्ड के १२२वें छन्द की 'रावरे रीति आपनी जो होई सोई कीजै बलि। तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को॥' के आधार पर कुछ लोगों ने उनके अयोध्या में जन्म लेने का प्रमाण माना है। पर यह मुहावरे का प्रयोग है। किसीके प्रति आत्मीयता का प्रकाशन करने के लिए बहुधा कहा जाता है कि हम तो आपके ही हैं। ऐसे ही 'घर जायउ है घर को' कह दिया गया है। इसमें और कोई तथ्य नहीं है।

काशी के कारण गंगा भी तुलसीदास जी को विशेष प्रिय थी। उन्होंने कहा है कि मैं गंगा जल पान करता हूँ और राम का नाम लेकर उदरपूर्ति करता हूँ। अन्यत्र भी अपने ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर गंगा की प्रशंसा की है।

काशी में तुलसीदास जी को एक बार मीनों ने सताया था तथा दूसरी ओर रोग-शोक ने दबाया था। मीनों के दुर्व्यवहार पर वे कहते हैं

गाँव बसत बामदेव मैं कबहूँ न निहोरे।
अधिभौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे॥
बेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे।
तुलसी दलि रूँध्यो चहैं सठ साखि सिहोरे॥

—विनयपत्रिका छन्द ८

१—(अ) स्वार्थी अनुचित कहा

सब भाँति है राम के नेम निबेहों।

—कवितावली, उत्तरकाण्ड छन्द।

(आ) कहत्यौ मेरो रामबोला गाई रामोरी

नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं।

—कवितावली, उत्तरकाण्ड छन्द १०२

अन्तिम समय तुलसीदास जी को रोग ने बुरी तरह भर दबाया था। उस रोग से व्याकुल ये महात्मा रोग से छूटने के लिए शिवजी राम और हनुमान् तीन की ओर ही देखते हैं[1]। एक स्थान पर रोग के लिए 'बरतोर' शब्द का प्रयोग किया है। ऐसा लगता है कि यह वातरोग का सूचक है। उसका फूट-फूटकर निकलना मानो रामराज्य का खाया हुआ नमक ही बाहर आता हो।[2] जो कुछ भी पीड़ा थी वह बड़ी भयंकर थी। उससे उनका सारा शरीर ही पीड़ामय हो गया था।[3] ऐसे रोग से निवृत्ति भी एक बार हनुमान् जी की ही कृपा से हुई थी। इसे हर्ष के साथ हनुमान् जी की प्रशंसा में वे कहते हैं कि रोगों की फौज उन्हीं के कारण भाग गई।[4]

१—रोग भयो भूत सो कुसूत भयो तुलसी को भूतनाथ पाहि पदपंकज गहतु हौं।

—कवितावली, उत्तरकाण्ड छन्द १६७

भारी पीर दुसह सरीर ते बिहाल होत सोऊ रघुबीर बिनु सकै दूरि करि को।

—हनुमानबाहुक, छन्द ४२

मारुती मगर कुसुमारे रघुराज कृ, माहाबर महाराज बेगिही निवारिये।

—हनुमानबाहुक, छन्द २

महाबीर बाँकुरे बराकी बाँहपीर क्यों न लंकिनी ज्यों लातघात ही मरोरि मारिए।

—हनुमानबाहुक छन्द ३३

आपु हनुमान की, दुहाई बलवान की सपथ महाबीर की जो रहै पीर बाँह की।

—हनुमानबाहुक, छन्द १८

२—जाके मन मोहित कोटि मनोज मिस भूमि-भूमि निकसत नाम राम राम को।

—हनुमानबाहुक, छन्द ४१

३—पाँय पीर पेट पीर बाहु पीर मुँह पीर, जरजर सकल सरीर पीर मई है।

—हनुमानबाहुक छन्द ३८

४—रनाघा निसाचर हनूमान महाबलवान

हेरि हँसि हाँकि, फूँकि फौजें ते उड़ाई है।

खायो हुतो तुलसी कुरोग राढ़ राकसनि

केसरी किसोर राखे बीर बरिआई है।

—हनुमानबाहुक छन्द ३५

इसका अन्तिम दोहा यह है

रामनाम जस बरनि कै भयउ चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये अबही तुलसी सोन॥
—तुलसीसतसई

इससे स्पष्ट है कि मृत्यु के समय बड़े सन्तोष का अनुभव करते हुए ही वे गए। क्षेमकरी का शुभ शकुन भी उनके लिए मंगलसूचक ही हुआ।

अपने स्वभाव की विशेषताओं का उद्घाटन भी तुलसी ने यथास्थान किया है। वह भी प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब के अन्तर्गत ही आएगा। कारण वहाँ तुलसीदास स्पष्टतः उत्तम पुरुष में बात करते हैं और उसमें इतना अधिक अपनापन है कि उनके अतिरिक्त अन्य किसीको लक्ष्य करके यह बात कही ही नहीं मालूम पड़ती। अपने ग्रन्थों में तुलसीदास ने इस दृष्टि से अपने दैन्य और आत्मग्लानि का अच्छा चित्र दिया है। दैन्य और आत्मग्लानि के कथनों की अधिकता के कारण कुछ लोगों में विनय पत्रिका के सम्बन्ध में तो यह मतभेद भी है कि ऐसे कथन क्या वास्तव में तुलसी के हैं या इस बहाने कलयुगी जीवों की मनोदशा का ही वर्णन उन्होंने किया है? जैसा कि आरम्भ में कहा गया है कुछ कथन तो ऐसे हैं जो तुलसी के अतिरिक्त किसी और के हो ही नहीं सकते। जो ऐसे सीधे नहीं हैं उनके मूल में उनकी आत्मा का स्वर ही सुनाई देता है। इस दृष्टि से प्रथम प्रकार के कथन जीवन के प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब के अन्तर्गत आने चाहिए। उदाहरण के लिए ये महात्मा अपनी कविता के विषय में कहते हैं कि—मुझ भोरी मति वाले में यह भाषा भणित भी है। निश्चय ही यह हँसने की वस्तु है। यदि कोई नहीं हँसता तो यह उसकी कमी है।[1] मैं न कवि हूँ और न वचनप्रवीण। मैं तो समस्त कलाओं

१—भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसें नहिं खोरी॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

और विद्याओं से हीन हूँ।[1] मुझमें कवित-विवेक का नाम तक नहीं है। कोरे कागद लिखकर कवि कहलाने वाला मैं यह सत्य ही कह रहा हूँ। —यह उस महाकवि की वाणी है जो विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में अग्रस्थान का अधिकारी है। काव्य भक्ति और नीति की त्रिवेणी-स्वरूप जिसकी कविता की पावनता ने जन-जन को मुग्ध कर रखा है, वह ऐसी बात करता है यह उसकी विनम्रता की पराकाष्ठा है। इससे भी अधिक आश्चर्य तब होता है जब वह अपनी रचना को बालविनय कहता है। और उसके द्वारा केवल रामचरण में रति की कामना करता है।[3] वे राम के उन वंचक भक्तों में अपने को सर्वप्रथम रखने की बात कहते हैं जो कंचन क्रोध और काम के दास हैं।

दैन्य भक्ति की सात भूमिकाओं में से एक है पर उसकी जो चरम स्थिति तुलसी में है वह उनकी अपनी वस्तु है। अन्य कोई कवि इस दृष्टि से तुलसी की समता नहीं कर सकता। वे कहते हैं कि राम से कोई बड़ा नहीं है और मुझसे कोई छोटा नहीं है। राम से कोई बड़ा नहीं है तथा

१—कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

२—कवित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

३—(क) कवि कोबिद रघुबर चरित मानस मंजु मराल।
बालबिनय सुनि सुरुचि लखि मो पर होहु कृपाल॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

(ख) संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।
बालबिनय सुनि करि कृपा रामचरन रति देहु॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

—बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधक धोरी॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड

मुझसे कोई खोटा नहीं है।'[1] वे अपने को दगाबाज और वह भी परले सिरे का मानते हैं।[2] उनसे बड़ा निकम्मा काहिल और कपूत शायद ही कोई हो।[3] राम के सहारे उनकी भले ही बन जाए अन्यथा व धोबी के कुत्ते की तरह न घर के हैं न घाट के।[4] वे इतने अपवित्र और दुर्गुण-भरे हैं कि व्याध और वधिक भी उनकी छाँह छूने डरते हैं।[5] आत्मग्लानि का इससे अच्छा उदाहरण नहीं मिल सकता। वस्तुतः बात यह है कि ज्यों ज्यों महान् आत्माएं साधना के सोपान पार करती हुई सिद्धि के शिखर छूने को बढ़ती जाती हैं अपने दैन्य और आत्मग्लानि के द्वारा आत्मा में जमे मैल के कण-कण से छूटने के लिए अपने को अधिकाधिक धिक्कार का पात्र समझती जाती हैं।

१—राम सों बड़ो है कौन मोसों कौन छोटो, राम सों खरो है कौन मोसों कौन खोटो।
—विनयपत्रिका छन्द ७२

२—(क) स्वारथ को साजु न समाजु परमारथ को
मोसो दगाबाज दूसरो न जगजाल है।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द ६२

(ख) नाम तुलसी पै भोंडे भाग तें कहायो दासु
कियो अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को।
—कवितावली उत्तरकाण्ड छन्द १३

३—(क) रामही के द्वारे पै बोलाइ सनमानियत
मोसे दीन दूबरे कपूत कूर काहली।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड छन्द ११

(ख) राम नाम के समर्थ तरे काम लिये
तुलसी से कूर को कहत जग राम को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड छन्द १४

४—तुलसी बनी है राम रावरें बनाएँ ना तो
धोबी कैसो कूकर न घर को न घाट को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड छन्द ६६

५—व्याध अपार अपावन सो [illegible]
नाहीं बात हुई छाया व्याध बाघ को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड छन्द ६

सकता है।[1] राम की भक्तिरूपी भूमि में उनकी मति दूब की तरह गहरी जड़ जमाए थी। इसीलिए वे न काल से डरते थे और न किसी और से भय खाते थे।[3] वे तो बिना जानकीनाथ के किसीके हाहा खाने को भी तैयार न थे। कवितावली के उत्तरकाण्ड में उनका आत्मविश्वास जितना मुखर है उतना अन्यत्र नहीं। यों तो विनयपत्रिका में भी उसकी झलक मिल जाती है पर विनयपत्रिका में दैन्य वृत्ति की प्रधानता है और कवितावली में आत्मविश्वास और दृढ़ इच्छा-शक्ति की। विनयपत्रिका में उन्होंने जो कुछ कहा है वह गीतिकाव्य की कोमलता में दबा है पर कवितावली में ओज के साथ निखार लेकर उनका उन्नत हृदय काल की करालता को चुनौती देता खड़ा है।

दैन्य आत्मग्लानि और आत्मविश्वास के साथ काव्य और भक्ति के बीच में उतरने वाले महात्मा तुलसीदास ने राम के समक्ष अवश्य अपनी हीनता दिखाई है पर वे दुष्टों और खलों के सामने वेदविहित मार्गों से हटकर चलने वालों से हारकर आत्मसमर्पण करने वाले न थे। जैसा कि आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि तुलसी की यह परमानुभूति परम महत्त्व के साक्षात्कार के कारण थी। अतः लोक-व्यवहार के भीतर उसका जितना अंश समा सकता था इसका विचार भी हम रखना पड़ता

१—उनके ही मन में जो होत सोय सीखे लागे
कहाँ सुभाव बहु तुलसी के मन को।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड छन्द ७३

२—तुलसी को अपनो बोध हाथ रघुनाथ ही के
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड छन्द १०८

३—तुलसी बहु गाति हिये जगमें जग में नहि काहु से डरिहै।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड छन्द ३७

४—जानकीनाथ बिना तुलसी जग दूसरे सों करिहौं न हहा है।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड छन्द १ १

५—देखिए विनयपत्रिका के पद १९१, १९४ १९३ १७८, १७७ १७६ आदि

...ग्या करते । सच तो यह है कि उन्होंने स्वान्तः सुखाय ही इस रघुनाथ गाथा का सृजन किया और वह भी परम्परा से प्राप्त ब्राह्मणों की भाषा को छोड़कर जनता की भाषा में । "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ।

जीवन के प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब पर विचार कर लेने के बाद अब तनिक अप्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब पर भी विचार कर लेना चाहिए । हम प्रारम्भ में कह चुके हैं कि अप्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब का यही अर्थ हम लेंगे जहाँ तुलसी के व्यक्तित्व की गहरी छाप होगी । यों कविता के विषयगत और विषयिगत या भावगीती और जगद्गीती नामक भेद किसी निश्चित विभाजक रेखा से अलग नहीं किए जा सकते परन्तु फिर भी विषयगत या जगद्गीती में कुछ अंश विषयिगत या भावगीती का होना सम्भव है । वह तुलसी में भी है । उदाहरण के लिए हम सब से पहले काव्य की भाषा और भावों के सम्बन्ध में उनके विचारों को लेते हैं । उन विचारों को निश्चय ही हमें तुलसी के निजी विचारों के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा । उनको उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग मानना पड़ेगा ।

सर्वप्रथम वे काव्य के लक्ष्य पर दृष्टिपात करते हैं । उनकी दृष्टि से काव्य का लक्ष्य सर्वहित होना चाहिए—

कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥

—रामचरितमानस बालकाण्ड

लेकिन यदि कोई कविता सब के लिए हितकर हो लोग उसमें जीवन के लिए सबल पा सकें पर वह विद्वानों की दृष्टि से उत्कृष्ट न हो तो वह श्रेष्ठ कविता नहीं कही जा सकती । इसलिए मानस-रचना के साथ

१—कृपा बिनसी कछु काजु नहीं न प्रभाउ कछू जिनकें गुन गाएँ ।
करै बिनता फलपति ने जो तिन पद सिवत फिरे तिन तीरे ॥
तुलसी जदि के रघुनाथ से काजु समर्थ सुसेवन तीवन धारें ।
कछु मन भर धरा नेहि या जिबरे भाके बिनमी बिनु सरे ॥

—कवितावली उत्तरकाण्ड छन्द ४८

स्थिति यह है कि वे हरिश्चन्द्र और दधीचि जैसे महान् व्यक्तियों को भी गाली देते हैं और अपने स्वार्थ साधन में ही लीन रहते हैं।[1] लेकिन इस दशा का कारण वे दरिद्रता को मानते हैं। वे कहते हैं कि न किसान को खेती है न भिखारी को भीख और न बनिये को बनिज। सब लोग जीविका-विहीन और दुःखी हैं और एक-दूसरे से पूछ रहे हैं कि कहाँ जाएँ और क्या करें?[2]

वर्णाश्रम की मर्यादा के प्रति तुलसी का अधिक झुकाव था। वे लोक-धर्म के समर्थक होने और दरिद्रनारायण के प्रति सहानुभूतिशील रहने पर भी अपने वर्णाश्रम-धर्म से एक इंच भी नहीं हटना चाहते थे। दोहावली में उन्होंने समाज की इस सामाजिक प्रणाली के नष्ट भ्रष्ट हो जाने पर अत्यन्त दुःख प्रकट किया है। वे कहते हैं कि आज शूद्र ब्राह्मणों से बराबरी के लिए वादविवाद करते हैं और ब्रह्मज्ञानी बनते हैं।[3] कलियुग की दशा यह है कि कपोल-कल्पित कथाएँ कह-कहकर भक्ति का निरूपण करते हैं और वेद-पुराणों की निन्दा करते हैं। वेद-विहित हरि के मार्ग को छोड़कर नाना सम्प्रदाय खड़े किए जा रहे हैं। पाखण्ड के

१—गारी देत नीच हरिचन्द हू दधीचि हू को
आपने चना चबाय हाथ चाटियतु है।
—कवितावली, उत्तरकांड छन्द ११[illegible]

२—खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई का करी॥
—कवितावली, उत्तरकांड छन्द [illegible]

३—बादहिं शूद्र द्विजन सन हम तुमसे कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर आँखि दिखावहिं डाटि॥
—दोहावली, छन्द ५५१

पड़ा था। गृहस्थ जीवन की सबसे निकृष्ट आसक्ति के वे शिकार हो चुके थे, अशिक्षित और संस्कृतिहीन जनता में वे रह चुके थे और काशी के विज्ञ पंडितों तथा संन्यासियों के सम्पर्क में उन्हें खूब आना पड़ा था। नाना-पुराण-निगमागम का अभ्यास उन्होंने किया था। और लोकप्रिय साहित्य और साधना की नाड़ी उन्होंने पहचानी थी'। इस कारण साहित्य, समाज, धर्म सभी क्षेत्रों में उन्होंने समन्वय को महत्त्व दिया। अपने समय की ऐसी कौन-सी धर्म-पद्धति है जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक न अपनाया हो। राम के मुख से 'सिवद्रोही मम दास कहावा सो नर मोहि सपनेहु नहिं भावा' कहलाकर तत्कालीन शैव और वैष्णव सम्प्रदायों को उन्होंने परस्पर अनुकूलता प्रदान कर दी। विनयपत्रिका में द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी को एकरस करके कहा कि 'तुलसिदास परिहर तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै'। सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा। की घोषणा से भक्ति और ज्ञान को एक कर दिया। राम के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों के प्रति प्रेम ने उन्हें निर्गुण और सगुण का समन्वयकारी बना दिया। केवट और शबरी, अंगद और हनुमान् तथा विभीषण से राम का आत्मीय नाता जोड़ा और ऊँच-नीच के भेद को ही व्यर्थ सिद्ध कर दिया। 'तुलसी घर बन बीच में रहो प्रेमपुर छाय' के द्वारा उन्होंने गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय भी कर दिया। समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का समन्वय अयोध्याकाण्ड में देखने को मिलता है। वस्तुतः इस प्रकार रामचरित के माध्यम से उन्होंने भौतिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों के समन्वय की व्यापक भूमि का परिचय दिया। कदाचित यही कारण है कि तुलसी-साहित्य का अनुशीलन करते समय साहित्य, समाज, धर्म आदि के क्षेत्रों में नाना विचारधाराओं से परिचालित व्यक्ति अपने-अपने अनुकूल उपादेय सामग्री पा जाते हैं।

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका चतुर्थ संस्करण पृ० १ २ ४

२—विनयपत्रिका पद १११

सारांश यह कि तुलसी-साहित्य से उनके जीवन के आन्तरिक और बाह्य दोनों पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। उनकी निर्वैयक्तिकता के भीतर वैयक्तिक जीवन की धारा सर्वत्र प्रवाहित है। यदि यह कहा जाए कि उनके जीवन और साहित्य दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है तो अत्युक्ति न होगी। उनके साहित्य का अध्ययन करने वाला कोई भी सजग पाठक स्थल-स्थल पर उनके जीवन की झलक पाकर उनकी महत्ता से परिचित हो सकता है।

३

तुलसीदास युग

समकालीन परिस्थिति

कवि परिस्थिति-विशेष में उत्पन्न होता, उससे संस्कार-ग्रहण करता, प्रेरणा प्राप्त करता, बनता और परिस्थिति को अपनी रचनाओं में प्रतिबिम्बित करता है, यह ठीक है; परन्तु साथ ही यह भी ठीक है कि वह अपनी समसामयिक परिस्थितियों की प्रतिक्रियास्वरूप बहुत कुछ उन्हें परिष्कृत करने और बनाने का भी कार्य करता है। वह कवि नहीं जो अपनी स्थिति से जन्म और जीवन ग्रहण करके अपने भावों और विचारों द्वारा वायुमण्डल को सुरभित, विकसित और प्रफुल्लित न कर दे। यदि वह युग का प्रतिनिधित्व करता है तो वह युग का निर्माण भी करता है। यह सभी महान् कलाकारों के सम्बन्ध में सत्य है। अतः किसी कवि के अध्ययन करने में उसके दोनों पक्ष देखना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है। पहले तो हम यह देखना होता है कि कहाँ तक समसामयिक परिस्थितियों ने किसी कवि को बनाने में योग दिया है और फिर यह भी समझना होता है कि उसने अपने युग तथा आगामी युगों को कहाँ तक प्रभावित किया है। गोस्वामी तुलसीदास का अध्ययन हम इन्हीं दृष्टियों से करेंगे।

भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के अन्तर्गत रामचरितमानस की रचना एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण घटना है। तुलसी की परिस्थितियों में उनके

युग मे उनके माता-पिता ने तुलसी को जन्म देकर कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नही किया परन्तु तुलसी ने मानस की रचना करके एक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया है। अत तुलसी की महत्ता अपनी ही निजी है। उनकी परिस्थितियो मे तुलसी को मानस जैसी कृति की रचना के लिए कोई भी सुविधाए नहीं दी वरन् सामान्य रीति से जो सुविधाए ऐसे व्यक्ति को मिल सकती हैं वे भी उनसे छीन ली। उनके शारीरिक मानसिक नैतिक किसी भी प्रकार के विकास मे सहायक उनकी पारिवारिक और सामाजिक परिस्थितिया नही थी। अत जो कुछ महानता उन्हे प्राप्त हुई वह परिस्थिति-प्रदत्त नही, वरन् निजी प्रतिभा और शक्ति के रूप मे है। इन परिस्थितियो ने इनकी प्रतिभा और महानता को प्रखर और जागरूक रखने के लिए अवश्य महत्त्वपूर्ण काम किया। जैसे ही जैसे कोई विषम और प्रतिकूल परिस्थितियों के थपेडे खाकर अपनी सामर्थ्य के प्रति सचेत हो जाता है वैसी ही सचेतना एक असीम शक्ति के ऊपर विश्वास के रूप मे तुलसी के भीतर जाग्रत हो सकी।

राजनीतिक स्थिति

गोस्वामी तुलसीदास जी का प्रादुर्भाव काल १५वी शताब्दी ईस्वी का अन्त अथवा १६वी शताब्दी ईस्वी का प्रारम्भ था। भारतीय इतिहास के अनुसार उस समय पठानो (लोदी वश) का शासन-काल समाप्त हो रहा था और मुगलो का भारतीय शासन-क्षेत्र मे पदार्पण। १५२६ ई० में बाबर ने इब्राहीम लोदी को परास्त किया और सन् १५२६ से १५३१ तक दिल्ली का राज्यशासन किया। उसके बाद हुमायू का और सन् १५५६ से १६०५ तक अकबर का राज्यकाल रहा। पठानो और मुगलो के शासनकाल के महत्त्वपूर्ण भाग को तुलसी ने अपनी आखो देखा अथवा श्रुत अनुभव प्राप्त किया। बडे-बडे राजनैतिक परिवर्तन उनके समय मे हुए। शासन को प्राप्त करने के लिए परस्पर लड़ाई झगड़े उस युग की विशेषता थी। क्या राजा क्या प्रजा सभी का जीवन अस्थिरता

और सुरक्षा से हीन था। उस समय कुछ भी स्थायी न था। राजनीतिक परिस्थिति की विशेषताओं का संक्षिप्त निर्देशन इस प्रकार किया जा सकता है—

१ राजकीय परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से हो रहे थे।
२ इस राज्यपरिवर्तन में अधिकांश अधिकार-लिप्सा और शक्ति ही प्रेरक थी। कोई नियम, मर्यादा या आदर्श विद्यमान न थे। भतीजा चचा का पिता पुत्र का भाई भाई का वध कर या बंदी कर राज्य पर अपना अधिकार जमा लेता था।
३ राजा और शासक प्राय अशिक्षित अहम्मन्य विलासी और क्रूर थे। शासन को अपने अधिकार में रखने की ओर वे अधिक सचेत थे जन-कल्याण की ओर नहीं।
४ अकबर के पूर्ववर्ती राजाओं के अस्तव्यस्त और अव्यवस्थित शासन काल में कोई भी सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति न हुई थी।

उपर्युक्त बातों का तुलसी के मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनके मन में प्रतिक्रियास्वरूप भारतीय रघुवंशी राजाओं का आदर्श शासन जागरित हुआ जो प्रायस प्रजावत्सल, त्यागी, वीर और पुरुसंयम थे। अत इन परस्पर लड़ते-झगड़ते और अपने सगे-सम्बन्धियों का रक्त बहाते राजाओं के सम्मुख उन्होंने राम के परिवार का आदर्श रखा, जहा पिता की आज्ञावश एक राज्य का अधिकारी पुत्र वनवास ग्रहण करता है और उसीका दूसरा भाई वंश-मर्यादा और भ्रातृ-प्रेम का पालन करता हुआ राज्य को ठुकरा देता है और बड़े भाई के आने तक केवल उसे धरोहर रूप रखता है। इन आदर्श को सामने रखकर उन्होंने अपने युग में रामराज्य की स्थापना करनी चाही जो बाह्य विषयों पर नहीं वरन् हृदय और मानस पर युग-युग तक कायम रह सका। पठानों और मुगलों का साम्राज्य संसार से और भारत से उठ गया पर तुलसी का सांस्कृतिक रामराज्य आज भी रचना के हमारे बीच जमा हुआ है। रामराज्य की उच्च धारणा रखने वाले तुलसी को तत्कालीन राजाओं

की भुक्तिसा और क्रूरता कितनी खटकती थी यह उनके इस क्षोभ-भरे दोहे से प्रकट है—

गोंड गँवार नृपाल कलि यवन महा महिपाल ।
साम न दाम न भेद अब केवल दंड कराल ॥

मानवता और करुणा से ओतप्रोत तुलसी का मानस इस क्रूरता को सहन करने में असमर्थ था इसीलिए उन्होंने अपने आसपास मानसिक राम-राज्य बना लिया था जिसमें वे स्वयं जीवन पर्यन्त रहे और अपने बाद भी उसे छोड़ गए। उक्ति है कि एक बार अकबर के दरबार की मनसबदारी का प्रलोभन मिलने पर उन्होंने कहा था—

हम चाकर रघुवीर के पटौ लिखौ दरबार ।
तुलसी अब का होहिंगे नर के मनसबदार ॥

अतः हम कह सकते हैं कि तुलसी के संवेदनशील मानस पर प्रेरणात्मक प्रभाव डालने में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का हाथ था ।

सामाजिक स्थिति

तुलसी के समय सामाजिक ढाँचा तो दूसरा था पर व्यावहारिक स्थिति उससे भिन्न थी। उस समय वर्ण-व्यवस्था की ऊँच-नीच का भेद शून्य था आश्रम-व्यवस्था नहीं थी पर सन्यासी साधु, मलङ्गों जोगियों आदि का आदर था उनके प्रति सम्मान का भाव था। पारिवारिक जीवन में दिखावे की मर्यादा बाहरी रूप में थी उसका आन्तरिक स्फुरण नहीं था। स्त्री को परिवार में बन्धन अनेक थे अतः अनेक थे पर स्वच्छन्दता और अधिकार कम। आर्थिक दृष्टि से वह पुरुष के ऊपर आश्रित थी। मुगलों और पठानों की क्रूर सौन्दर्य-लिप्सा ने उसे वासनात्मक आकर्षण एवं विलासात्मक महत्त्व ही दे रखा था। उस समय जन-साधारण में तो नहीं पर समृद्ध समाज में बहुपत्नीत्व का प्रचलन था। हिन्दू-समाज में भी यह वर्जित न था पर मुसलमानों के बीच तो यह अतिशय रूप से देखने को मिलता था। बादशाह छोटे

छोटे शासक और पदाधिकारी-गण एक से अधिक स्त्रियाँ रखते थे जिसका दुष्परिणाम विलासिता और दुराचार था। उदात्त सामाजिक और देशोन्नति की भावनाओं के स्थान पर विलासिता लोभ ईर्ष्या द्वेष और वैमनस्य का ही अधिकार था और शासक धन और विलास-लिप्सा से ही परिपूर्ण थे और इसका प्रभाव सामान्य जनों के चरित्र पर भी अवश्य पड़ा होगा विशेषरूप से शासकवर्ग की जनता तो इससे अवश्य प्रभावित थी।

हिन्दू समाज में कुछ राजाओं और बादशाह के कृपापात्रों के अतिरिक्त अधिकांश जनता, महत्त्वाकांक्षाहीन निर्धन और जीवन से उदासीन थी। अधिकांश जन-साधारण का जीवन राजाओं और अधिकारी-वर्गों की सुख-समृद्धि जुटाने में ही व्यतीत होता था। व परिश्रम भी करते थे तो वह अपने सुख या आवश्यकता-पूर्ति के लिए न हो पाता था क्योंकि वह सब कुछ उस युग के सम्पत्तिसम्पन्न वर्गों के बढ़ते विलास की महाधारा में बहकर मिलता जाता था और इस प्रकार जन-साधारण सतत मातक दुर्दशा और गरीबी में जीवन व्यतीत कर रहा था। यद्यपि भूमि उर्वर थी, पर अपनी अशिक्षता और साधन-हीनता के कारण उससे लोग अच्छी उपज नहीं प्राप्त कर पाते थे और सामान्य जनता का जीवन कष्टमय और संकट से भरा हुआ था क्योंकि राजा प्रजा के लिए नहीं वरन् प्रजा राजा के लिए थी। धनी और शासक-समुदाय की स्वार्थपूर्ण असामाजिक लिप्सा और शक्ति के दुरुपयोग के कारण साधारण जनता का जीवन दुःख और शोक का आवास था जिसका परिणाम दरिद्रता आचरणहीनता आत्मविश्वास की कमी जीवन के प्रति उदासीनता और निर्वेद एवं अतिशय ईश्वरोन्मुखता थी इस युग में हिन्दू-समाज में भक्ति-भावना को जाग्रत करने का यही बहुत बड़ा कारण था।

अकबर का शासन-काल किन्हीं अंशों में अच्छा था फिर भी वह तुलनात्मक दृष्टि से ही। उसके समय में भी इन दुर्भिक्षों के समय जनता

में त्राहि त्राहि मची थी। सन् १५५५ और १५७३-७४ में पड़े हुए दुर्भिक्षों में आदमी अपने ही सगे-सम्बन्धियों को खा जाते थे। चारों ओर उजाड़ दिखाई देता था और शव गाड़ने के लिए जीवित आदमी बहुत कम रह गए थे। इस प्रकार दुर्भिक्ष अकाल और महामारी के समय जनता की रक्षा का ध्यान शासकों को बहुत कम था। अबुलफजल ने अपने 'आईने अकबरी' में बहुत कम विवरण इन दुर्भिक्षों का दिया है। दुर्भिक्ष आदि तो दैवी आपत्तियां होती हैं फिर भी व्यवस्थित राज्य में उसका समुचित प्रबन्ध कर लिया जाता है। यह मानते हुए भी कि उस समय समुचित व्यवस्था न थी और अकबर ने तो बाढ़-बहुत रक्षा के उपाय भी किए थे यह निश्चित हो जाता है कि समाज की व्यवस्था बड़ी बिगड़ी हुई थी और संगठन छिन्न-भिन्न था। हिन्दू-समाज में वर्ण व्यवस्था का शिथिल ढांचा रह गया और उसमें से धर्म-कौशल त्याग और संगठन की भावना विलीन हो गई थी वही विकृत होकर अब उपहास का कारण बन बैठी थी जिसका वर्णन इतिहासकारों ने भी किया है और गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने रामचरितमानस और कवितावली में उल्लेख किया है।

इतिहासकारों द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त दशा सामाजिक कल्याण का ध्येय रखने वाले किसी भी व्यक्ति के मानस को द्रवित कर सकती है और तुलसीदास का मन भी अपनी निजी समाज और देश की दशा को देखकर अतिशय द्रवित हुआ यह स्वाभाविक था। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड के कलियुग-वर्णन में और कवितावली के उत्तरकाण्ड में समकालीन सामाजिक दशा का जो चित्रण तुलसी ने किया है वह केवल काल्पनिक नहीं वरन इतिहास-सिद्ध है जैसा हम आगे देखेंगे। संक्षेप में तुलसी का समकालीन स्थिति का चित्रण इस प्रकार है—किसान को खेती करने के साधन उपलब्ध नहीं भिखारी को भीख नहीं मिलती। न वणिक का व्यापार ही चलता है और न नौकर को नौकरी मिलती है। लोग जीविकाहीन हैं और सोच एवं चिन्ताग्रस्त दशा में क्षीण हो

रहे हैं। एक दूसरे से कहते हैं कि कहाँ जाएँ और क्या करें ? इस भ्रम-दुविधा-रूप रावण ने संसार को दबा रखा है। इसके परिणामस्वरूप चारों ओर कुकर्म बढ़ रहे हैं और व्यक्तिगत सामाजिक और धार्मिक सदाचार सब नष्ट हो रहे हैं। सभी पेट की आग से पीड़ित हैं और अपने उदर-पोषण के लिए कारीगर, व्यापारी भाट नट आदि अपने गुण दिखलाते हैं। पेट को भरने के लिए बेटा-बेटी को भी बेच देते हैं। गौरवशाली दानी और त्यागी व्यक्तियों का सम्मान नहीं है। इस सामयिक (कलियुग के) प्रभाव ने सबके मन को मलिन कर रखा है। कवितावली में आया यह वर्णन महामारी सनीचरी आदि के वर्णन से भिन्न है और समसामयिक सामान्य परिस्थिति का ही इतिवृत्त है। मानस के उत्तरकाण्ड में कलियुग-वर्णन जन-मन की मलिनता का और भी स्पष्ट प्रमाण देता है। परन्तु उसमें प्रायः पौराणिक परम्परा का पालन सा है और काकभुशुण्डि के पूर्ववर्ती जीवन में अनुभूत किसी कलियुग का चित्रण है। भागवत में भी कलियुग-वर्णन है जिसमें आगे आने वाले कलियुग के धर्मों के रूप में इस प्रकार की बातें कही गई हैं, जैसे—कलियुग में विपरीत धर्म का आचरण होगा कुटुम्ब के भरण-पोषण में ही दक्षता और चतुराई होगी यश और धन के लिए ही धर्म-सेवन होगा। पाण्डित्य के नाम पर वाक्चपलता होगी। चारों ओर दुष्ट जन फैलेंगे। चोर एवं दुष्ट बढ़ेंगे। वेद-मार्ग पाखण्ड से ढक जाएगा। राजा प्रजा के भक्षक होंगे। ब्राह्मण लोभी और भोगप्रिय होंगे। भृत्य द्रव्यहीन स्वामी को छोड़ देंगे और स्वामी आपत्तिग्रस्त भृत्य को। धर्म को न जानने वाले धर्म की दुहाई देंगे। जनता दुर्भिक्ष और कर से क्षीण सर्वथा चिन्ताग्रस्त रहेगी। कौड़ी के लिए अपने प्रिय जनों तक की हत्याएं होंगी आदि।

तुलसीदास के मानस के उत्तरकाण्ड में लगभग इसी प्रकार की बातें हैं पर अनेक बातें ऐसी हैं जो तात्कालिक स्थिति के चित्रण के रूप में हैं। तुलसी का वर्णन है कि कलियुग में ऐसा है। भागवत में है कि ऐसा होगा। अतएव उतना ही अन्तर हमें स्पष्ट दीखता है। तुलसी के कलियुग

वर्णन में प्रमुखतया बल वर्णाश्रम-धर्म की हीनता पर दिया गया है। वर्णाश्रम-व्यवस्था पर तुलसी का अटल विश्वास है। इसके नष्ट होने पर सामाजिक मर्यादा नष्ट हो जाती है। लोकचेतना कुंठित हो जाती है और तब यदि राजा भी अनाचारी हुआ तो सत्यानाश ही समझिए। परन्तु यदि वर्णाश्रम-व्यवस्था चलती रहती है तो राजा की अनाचारिता भी लोक-चेतना के सम्मुख पराजित होती है। इसीको भग होते देखकर तुलसी क्षुब्ध होते हैं और कहते हैं—

> कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
> दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥

> बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
> द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
> मारग सोइ जा कहुँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
> सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
> जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुनवंत बखाना॥
> जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
>
> ० ०
>
> मातु पिता बालकन्ह बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं।
>
> ० ० ०
>
> सौभागिनी बिभूषन हीना। बिधवन्ह के सिंगार नबीना।
> नारि मुई घर संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं सन्यासी॥

तुलसी का उपर्युक्त वर्णन भागवत से प्रेरित होता हुआ भी समकालीन अनुभव पर आधारित है। यह उनके पूर्ण विवरण से स्पष्ट हो जाता है जिसका आंशिक संकेत यहाँ पर किया गया है। अपने युग की इस प्रकार की सामाजिक स्थिति से क्षुब्ध होकर तुलसी ने राम के परिवार के आदर्श तथा रामराज्य की सामाजिक स्थिति को सामने रखना चाहा था क्योंकि उनका विश्वास था कि रामराज्य का आदर्श सामने

आने पर निश्चय ही लोगों का युग-प्रभाव से कलुषित मन नवीन चेतना और स्फूर्ति से सम्पन्न होगा और उस समाज की फिर से प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया जाएगा ।

धार्मिक स्थिति

गोस्वामी तुलसीदास के पूर्व उत्तर भारत और दक्षिण की अपनी निजी धार्मिक परम्पराए यहा की राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों एव धार्मिक प्रतिक्रियाओ के फलस्वरूप बन गई थी जिनमें से किसी का भी अध्ययन हम ऐकान्तिक और विच्छिन्न रूप से नही कर सकते । यदि हम ध्यान से देखे तो सामाजिक प्रतिक्रिया एव एकाकी दृष्टिकोण के फलस्वरूप जो धार्मिक परिवर्तन होते गए उन्हे विकास की अवस्थाओ के रूप मे ही ग्रहण किया जा सकता है । वैदिक साहित्य के ज्ञान उपासना और कर्मकांड के पक्षो को लेकर परवर्ती धार्मिक दृष्टिया फूटी । उपनिषद् और वेदान्त ज्ञान और चिन्तन की उत्कृष्ट अवस्था का द्योतक है जिसकी चरम परिणति शकराचार्य के भाष्य मे दिखलाई देती है । याज्ञिक हिंसा और उसके फलस्वरूप ब्राह्मण लोलुप तृष्णा (जो कर्म काड का प्रमुख अंग थी) के प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध और जैन अनात्म वादी धर्मो का विकास हुआ जिसमे प्रत्यक्ष धर्म का परम्परागत ज्ञान और संस्कारो से पूर्ण विच्छिन्न रूप दिखलाई पड़ता है । वर्णाश्रम की कल्पित बुराइयो का भी सहज विरोध एव साम्य तथा मानवतापूर्ण दृष्टि के साथ मानवता का संदेश देने वाले इन धर्मो ने दलित और निम्न श्रेणी के वर्गों को विशेष आकृष्ट किया । साम्य के भाव मे विचारपूर्ण हिन्दूधर्म का कोई विरोध न था । अत शकर वेदान्त उसका खण्डन करने मे समर्थ हुआ परन्तु अद्वैत प्रतिपादन मे भक्ति और उपासना का क्षेत्र उन्मुक्त न था । अत उपासना पर अधिक बल देने वाले व्यक्तियों ने इस अद्वैत का विरोध हुआ । यहा तक कि शकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध तक कहा गया । इसमे सन्देह नही कि बौद्धिक चिन्तन की दृष्टि से

अद्वैत सिद्धान्त विश्व की दार्शनिक मीमांसाओं मे सर्वोपरि ठहरता है, फिर भी ज्ञान और बुद्धि का सम्पूर्ण करण पर भी दैनिक जीवन-सम्बन्धी रागात्मक व्यावहारिकता की इसमे कमी है। लोक-जीवन की दैनंदिन कार्यप्रणाली मे उसका उपयोग नही। सामाजिक अनुष्ठानो के विकास का उसमे कोई स्थान नही। अत उसके प्रतिक्रियास्वरूप वेदान्त-सूत्रो की व्याख्याए अनेक विद्वानो द्वारा की गई। रामानुजाचार्य विष्णु स्वामी निम्बार्क माध्वाचार्य वल्लभाचार्य आदि दार्शनिक भक्तो ने लोक-जीवन-सुलभ व्याख्याए प्रस्तुत की जिनका अविकास के अन्तर्गत प्रचलित सामाजिक व्यवस्था से पूरा मेल जोड था। इस प्रकार भक्ति की एक सुदृढ दार्शनिक पृष्ठभूमि बन गई थी। दक्षिण की इस भक्ति-पद्धति का प्रभाव तुलसी के समय म उत्तर भारत मे भी प्रारम्भ हुआ और गोस्वामी जी स्वय उसके एक प्रमुख प्रचारक रहे।

उत्तरी भारत की धार्मिक परम्पराए दक्षिण से कुछ भिन्न थी। दक्षिण मे न तो बौद्ध धर्म का ही इतना जन-व्यापी प्रचार हुआ था और न इस्लाम धर्म का ही कोई अधिक गहरा प्रभाव था। अतएव वहा की परिस्थिति के अनुरूप धार्मिक परम्पराओ का विकास हो रहा था। परन्तु उत्तरी भारत म दोनो का प्रभाव गहरा था। बौद्ध और जैन धर्म विभिन्न शाखाओ-प्रशाखाओ मे विभक्त हो गए थे। उनमे भी साधना और सदाचार की शिथिल कमी आ गई थी फिर भी इनके साम्य भाव का प्रभाव पडा और योगदर्शन को लेकर चलने वाले साधको ने इस दृष्टि को अपनाकर अपने नए सम्प्रदाय विकसित किए। सिद्धो नाथो आदि के योग-परक सम्प्रदाय इसी प्रकार के है जिनमे निर्गुण-निराकार ब्रह्म का ज्योतिदर्शन अनहद नाद-श्रवण कुण्डलिनी-शक्ति-जागरण एव योग सरीखा समाधि अवस्था का-सा ध्यानानन्द प्रमुख महत्व रखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये सम्प्रदाय कोई नितान्त नवीन सम्प्रदाय नही है वरन्, पातजल योगदर्शन के आधार पर विकसित योग सम्प्रदाय है जो पूर्ववर्ती परम्परा से पोषित है। इनमे प्राय बढकर ज्ञान के पक्ष पर

कम बल रह गया और साधना या क्रिया पर अधिक साथ ही नाथ अधिकांश में तांत्रिक ढंग से सिद्धि विषम लोगों को चमत्कृत करने का प्रयास अधिक था साधना से आत्मिक विकास और आत्मा-परमात्मा की एकता का भाव कम।

इसीसे प्रभावित निर्गुण संतमत भी है, जिसके प्रवर्तक कबीर माने जाते हैं। परन्तु, तुलसी की भाँति कबीर भी समन्वयवादी थे ऐसा प्राय लोग नहीं समझते पर तथ्य ऐसा ही है। कबीर द्वारा प्रवर्तित संतमत के तीन पक्ष या भूमिका हैं। एक सिद्ध-नाथ सम्प्रदाय द्वितीय रामानन्द का भक्ति-मार्ग और तृतीय सूफीमत और इस्लाम धर्म। कबीर ने इन तीनों का समन्वय किया है। तुलसी और कबीर दोनों ही स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा के प्रतिभासम्पन्न महात्मा हैं और उन्हींके मत को लेकर चलने वाले हैं, अन्तर केवल यह है कि एक एक पक्ष को लेकर चलता है और द्वितीय दूसरे पक्ष को लेकर। यहाँ हमें कबीर के समन्वयवाद को स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है। कबीर के भीतर जो रुढ़ियों का खण्डन और ज्योतिदर्शन आदि की बातें हैं, वे नाथ सम्प्रदाय और गोरख-पंथियों की हैं। अनेक कथन गोरख और कबीर के बिलकुल एक से हैं। इसके साथ ही साथ कबीर ने रामानन्द की भक्ति-पद्धति और राम नाम को प्रमुख आधार माना। भक्ति को वे सर्वोपरि समझते हैं और उनकी सारी ज्ञान-चर्चा भक्ति के लिए ही है। इस भक्ति के भीतर सूफियों की प्रेम-साधना भी मिल गई है। जो प्रेम की मस्ती में मतवाले रहने की चर्चा कबीर ने की है वह सूफियों का प्रभाव है। अतएव रामानन्द के परवर्ती निर्गुण राम को प्रमुख आधार मानकर, सिद्धों और नाथों की यौगिक साधना के सहारे वे सूफियों की प्राण-दीपता से प्राण-मोद प्रेमभक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं।

रामानन्द की भक्ति-पद्धति का दूसरा गुण समन्वयात्मकता है। तुलसी ने इसीको अपनाया है। कबीर का प्रमुख उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना है और इसके लिए उन्होंने दोनों ही धर्मों की [illegible] नीति

और आचरणों का खंडन किया है। इस्लाम धर्म के अनुकूल वे मूर्ति पूजा और अवतार के विरोधी थे और एक ईश्वर की सत्ता को मानते थे। कबीर के समय इस विरोध की भावना के लिए एक मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि भी तैयार थी। महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी के आक्रमणों और मूर्ति भञ्जन के कृत्यों ने मूर्ति और अवतार पर से जनता की आस्था को हिला दिया था। अतः वह निर्गुणोपासना के लिए ही अधिक तत्पर थी। कट्टरकुलीन हिन्दू और कट्टर मुस्लिम मुल्लाओं का विरोधी होते हुए भी कबीर को जन-सामान्य के विश्वास का बल प्राप्त था और उस समय जन-साधारण और विशेषतः निम्न एवं अस्पृश्य वर्ग में कबीर के सतमत का विकास हुआ। तुलसी के समय तक कबीर की प्रतिभा क्षीण हो चुकी थी और अनेक पन्थों में उनकी वाणी का सार विभिन्न सम्प्रदायों में प्रवाहित हो रहा था परन्तु उसमें वह ओज न था। अनेक पन्थ भ्रम और विक्षेप को भी उत्पन्न करने वाले थे। इसी कारण से कबीर का व्यक्तिगत विरोध न करते हुए भी इस बहुसम्प्रदाय वाद का विरोध तुलसी ने किया—

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सदग्रन्थ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पन्थ॥

यहां प्रश्न यह उठता है कि निर्गुणोपासना के स्थान पर सगुणोपासना या साकारोपासना की आवश्यकता क्या थी? इसी प्रश्न के विश्लेषण में तुलसी का महत्व है। कबीर ने सगुण अवतारवाद का खण्डन किया था यह कहकर कि—

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम कर मरम है आना॥

तथा

दस अवतार ईसुरी माया कर्ता कै जिन पूजा।
कहै कबीर सुनो हो साधो उपजै खपै सो दूजा॥

यह तर्क सीधा है। आने-जाने वाली सभी वस्तुएं माया हैं अतः उसकी पूजा आवश्यक नहीं परन्तु निर्गुण की पूजा भी आसान नहीं। साथ ही

मात्र सर्वसुलभ दार्शनिक दृष्टिकोण भी यह नहीं बन पाता। अतएव इसी प्रकार के चैलेंज का उत्तर सा देते हुए तुलसी ने उत्तरकाण्ड में लिखा है—

निर्गुण रूप सुलभ अति सगुण जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ।

यह तुलसी का दृष्टिकोण है जिसपर अस्तुत आस्था रखने के कारण ही वे उस दार्शनिक मनोवृत्ति एवं व्यापक भक्ति का परिचय यह कहकर दे सके—

सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

गोस्वामी तुलसीदास का उद्देश्य केवल निर्गुण मत का खण्डन न था वरन् उसमें व्याप्त कोई सर्वजन सुगम सामाजिक आदर्श प्राप्त न होने से उसको जनसाधारण के लिए अस्वीकार करना था। इसके स्पष्ट करने से पूर्ववर्ती प्रश्न का उत्तर भी मिल जाता है। निर्गुण सन्तमत समाज के संन्यासी जनों के लिए उपयोगी हो सकता था जो समस्त सांसारिक जीवन के प्रति एक निर्वेद का भाव धारण कर सकते थे पर वह सामाजिक जीवन के प्रति कोई उत्साह प्रदान करता हुआ उन्हें दिखलाई न दिया। यह उदासीनता सामाजिक जीवन को निश्चय ही क्षीण कर रही थी। तुलसी ने इस बात का अनुभव किया कि लोक-जीवन के प्रति एक प्रबल आकर्षण उत्पन्न करना आवश्यक है साथ ही यह आकर्षण धार्मिक चेतना के आधार पर होना चाहिए। अतः इसी लोक-जीवन को नवीन स्फुरण प्रेरणा एवं सजीवता प्रदान करने के उद्देश्य से तुलसी ने आराध्य ईश्वर और निर्विकार परब्रह्म को सामाजिक क्षेत्र में उतारा जिसके परिणाम स्वरूप समाज की जीवन-धारा में नवीन सांस्कृतिक प्रगति आ सकी। तुलसी जीवन की सम्पूर्णता में विश्वास करने वाले व्यक्ति थे और उसीके अनुरूप पूर्ण लोक-धर्म की प्रतिष्ठा उन्होंने अपने ग्रन्थों में की है। लोक धर्मयुक्त सामाजिक दर्शन प्रदान करने में ही तुलसी की महानता छिपी है। अतः यह सिद्ध है कि धार्मिक पृष्ठभूमि भी तुलसी के दृष्टिकोण के औचित्य

को ही नहीं वरन् उसकी तीव्र आवश्यकता को सिद्ध कर रही है। उपर्युक्त पृष्ठभूमि में जब हम तुलसी के कृतित्व को देखते हैं, तभी हम उसका वास्तविक मूल्यांकन कर सकते हैं। अपने प्रमुख ग्रन्थ रामचरितमानस में तुलसीदास ने अपने युग के प्रमुख प्रश्न का कि क्या दशरथ के पुत्र राम ही परब्रह्म हैं ? जिसका उत्तर कबीर आदि ने निषेधात्मक दिया था विशेषरूप करके युग-युग व्यापी सामाजिक मर्यादा और आस्था को ध्यान में रखते हुए, उसके वास्तविक हित के अनुकूल उत्तर दिया है। इसीमें उनकी युग-युग व्यापी महत्ता छिपी है।

साहित्यिक स्थिति

तुलसी का कवि-रूप उनके धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण को प्रकट करने का साधन मात्र है यह उनका प्रमुख ध्येय नहीं। तुलसी ने जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में पूर्ववर्ती समस्त परम्पराओं के प्रति उदार दृष्टिकोण रखा है, उसी प्रकार के साहित्यिक क्षेत्र में भी अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन सभी प्रकार साहित्यिक और लोक-साहित्य की काव्य-शैलियों को अपनाने का प्रयत्न किया है। उनके पूर्व प्रचलित साहित्यिक पद्धतियों में प्रमुख निम्नलिखित हैं—

१ वीर-काव्यपद्धति : यह वीरगाथा काल से वीरों और राजाओं के गुणगान में प्रयुक्त पद्धति है जिसमें कवित्त छप्पय पद्धरी तोमर आदि वीरगतिगामी छन्दों में ओजपूर्ण वर्णन किए गए हैं। तुलसीदास का उद्देश्य यद्यपि प्राकृत जनों का गुणगान न था फिर भी उन्होंने राम के चरित्र के वीरता और ओज से पूर्ण स्थलों पर इस प्रकार की शैली और छन्दों का व्यवहार किया है। कवितावली में सुन्दर और लंका काण्डों में तथा रामचरितमानस में लंका काण्ड के भीतर इस प्रकार की शैली प्रगल्भता के साथ प्रकट हुई है।

२ सिद्धों-नाथों तथा निर्गुणी सन्त कवियों की साखी-शैली : इसमें प्रायः दोहों का प्रयोग है और यह उपदेश-प्रधान है। तुलसी की

वैराग्य संदीपिनी 'रामाज्ञा प्रश्न' 'दोहावली' आदि मे इस शैली के दर्शन होते हैं।

३ प्रेमाख्यानक प्रबन्धकाव्यों की दोहा चौपाई वाली शैली। इस शैली का प्रयोग जायसी कुतुबन मंझन आदि प्रेमगाथा लिखने वाले कवियों ने किया है। जायसी तो अयोध्या के पास ही जायस के रहने वाले थे। तुलसी की रामचरितमानस तथा वैराग्य संदीपिनी मे इसी पद्धति का प्रयोग है।

४ कवित्त-सवैयों की ललित शैली इसकी भी परम्परा प्रचलित थी। तुलसी के समकालीन गंग ब्रह्म नरहरि आदि कवि इसमे लिखते थे। तुलसी ने अपनी 'कवितावली' म ब्रजभाषा के माध्यम से इसी पद्धति को अपने अत्यन्त ललित रूप मे प्रकट किया है। इसके कुछ छन्द तो इतने सुन्दर हैं कि जान पड़ता है कि रीतिकालीन कवियों को अपने कवित्त और सवैया लिखने मे तुलसी से ही प्रेरणा मिली है। उदाहरणार्थ एक कवित्त और सवैया नीचे दिया जाता है—

कवित्त

सुन्दर बदन सरसीरुह सुहाये नैन मंजुल प्रसून माथे मुकुट जटनि के
अंसनि सरासन लसत सुचि कर सर, तून कटि मुनि पट लूटत पटनि के
नारि सुकुमारि संग जाके अंग उबटि कै बिधि बिरचै बरूथ बिद्युत छटनि के
गोरे को बरनु देखे सोनो न सलोनो लागै साँवरे बिलोके गर्ब घटत घटनि के

सवैया

बर दंत की पंगति कुंद कली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै छबि मोतिन माल अमोलन की।
घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की॥

समस्त वर्णन म रूप-चित्रण और अन्तिम पंक्ति मे उसका प्रभाव स्पष्ट है जो रीतिकालीन कवित्त-सवैया की विशेषता बनी।

५. पद-पद्धति : यह या तो निर्गुण सन्त काव्य मे भी मिलती है

पर विशेषतया इसका प्रयोग कृष्ण-भक्ति-काव्य में सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवियों द्वारा हुआ। इसका प्रयोग संगीत-कुशल कवियों द्वारा ही विशेष हुआ है। तुलसी ने अपनी गीतावली विनयपत्रिका कृष्ण गीतावली में पदशैली का ही अपनाया है। इनके विनय पद भी बड़े सुन्दर हैं। यद्यपि संगीत की दृष्टि से सूर और मीरा के पदों के समान नहीं पर भाव-गाम्भीर्य और काव्य-सौन्दर्य में ये श्रेष्ठ हैं।

६ *लोक-गीत-पद्धति :* तुलसी लोक-गीतों से भी बहुत अधिक अनुप्राणित हुए थे। ऐसा जान पड़ता है कि लोक-गीत और लोक-संस्कृति उनके संस्कारों में रम चुके थे। मांगलिक अथवा उत्सव-समारोहों में लोक-काव्य प्रतिमा गीतों आदि के रूप में मुखरित होती है। तुलसी के मानस पर उसका अमिट प्रभाव पड़ा था और वह उनकी रचनाओं में फूट निकला। लोक-गीतों की पद्धति हम 'पार्वतीमंगल' 'जानकीमंगल' 'रामललानहछू' तथा कहीं-कहीं 'कवितावली' और 'गीतावली' में देखने को मिलती है। पुत्रजन्म का सोहर 'नहछू' में गूंजता है जिसकी प्रतिध्वनि गीतावली के पुत्रोत्सव-वर्णन में भी सुनाई पड़ती है। विवाहोत्सव के मंगल गीत पार्वती और जानकी मंगल में हैं ही। इसके अतिरिक्त कविता-वली में कहीं-कहीं 'झूलना' नामक लोकछन्द का भी बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है जो उनकी अद्वितीय मेधा का द्योतक है। बड़े ओज और मस्त गति में चलता हुआ यह झूलना छन्द बड़ा प्रेरक होता है—

मत्तभट मुकुट दसकंठ साहस सइल सृंग बिद्दरनि जनु बज्र टाँकी।
दसन धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठु सेषु संकुचित संकित पिनाकी।
चलत महि मेरु उच्छलत सायर सकल बिकल बिधि बधिर दिसि बिदिसि झाँकी।
रजनिचर घरनि घर गर्भ अर्भक स्रवत सुनत हनुमान की हाँक बाँकी।

इसी प्रकार 'बरवै' भी लोकछन्द का एक रूप है। मानस में अनेक स्थानों पर झूलने की तरह होती तथा अन्य रचनाओं पर बरवै भी रहने की प्रथा है। और अवधी का तो यह ललित छन्द है जिसका उपयोग तुलसी ने किया और जिसपर मुग्ध होकर रहीम ने भी बड़ा ललित काव्य लिखा था।

यह तो छन्द आदि की दृष्टि से हुआ। कथासूत्र की दृष्टि से तुलसी ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों शैलियों को अपनाया और प्रबन्ध में भी महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों लिखे। तुलसी ने नाटक नहीं लिखे। पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य में नाटकों का पूर्ण अभाव है जिसका उत्तरदायित्व सम्भवत उस समय की शासक संस्कृति पर है जो नाटकों के विरोध में थी। फिर भी अपने महाकाव्य के अन्तर्गत तुलसी ने पौराणिक कथा शृंखला द्वारा सिद्धान्त-निरूपण वाली पद्धति, महाकाव्य की सर्गबद्ध शैली तथा नाटकों की नाटकीयता सबको मिलाकर एक बड़ी ही प्रभावशाली शैली का निर्माण किया है जिसमें सभी को आनन्द आता है। तुलसी के काव्य में विनयपत्रिका के रूप में हम एक शुद्ध गीति-काव्य ग्रन्थ पाते हैं। काव्य भेद की दृष्टि से उस समय इसकी कल्पना भी नहीं थी। यह तो पाश्चात्य काव्य रूप है। फिर भी इस पूर्णता के साथ समस्त प्रचलित काव्य-शैलियों में अपनी रचना को ढालने का तुलसी का प्रयास अद्भुत है।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि क्या तुलसी ने चमत्कार प्रदर्शन के लिए विभिन्न शैलियों में लिखा है अथवा रामचरित उन्हें इतना प्यारा था कि उसकी बराबर पुनरावृत्ति वे करते हैं या उसकी भी कोई सामाजिक आवश्यकता थी? तुलसी का प्रमुख ध्येय विविध रचनाओं में रामचरित लिखने का सामाजिक ही जान पड़ता है। उन्होंने प्रत्येक वर्ग को अपनी रुचि के अनुकूल रामचरित सुलभ करना चाहा और इस प्रकार महिला वर्ग के लिए उत्सव, संस्कारों के अवसर पर उपर्युक्त रामचरित के मंगल रचने वाले गीत उन्होंने 'रामलला नहछू', 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल' और 'गीतावली' में प्रदान किए। कवित्त रसिकों के लिए 'कवितावली', भक्तों और तत्त्वाभिलाषियों के लिए 'विनयपत्रिका', 'वैराग्य संदीपिनी' और रमाई, धर्म ग्रन्थ है। लोक-नीति से प्रेम रखने वालों के लिए 'दोहावली' है और गम्भीर साहित्यिक एवं धार्मिक रुचि वाले लोगों के लिए तथा जन-मानस का संस्कार करने के लिए तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' का प्रणयन किया। इस प्रकार तुलसी की व्यापक चेतना ने समाज की आवश्यकता और अभिरुचि का ध्यान रखकर विविध ग्रन्थों की रचना की थी।

डा० श्यामसुन्दर दास

४

तुलसी का काव्य-सौन्दर्य

गोस्वामी तुलसीदास जी भक्ति के क्षेत्र में जितने महान् थे उतने ही कविता के क्षेत्र में भी थे। वस्तुत उनकी कविता उनकी भक्ति का ही प्रतिरूप थी। उनकी भक्ति ही मानो वाणी का आवरण पहनकर कविता के रूप में व्यक्त हुई थी। उनकी कविता अपने आप अपना उद्देश्य नहीं थी। 'कवि न होउँ नहिं बचन प्रवीना' में कहा उनके विनय का पता चलता है वहां यह भी संकेत है कि उनकी काव्य-रचना का लक्ष्य कविता करना नहीं था। जिस प्रौढ़ वय में उन्होंने कविता करना प्रारम्भ किया था उससे पता चलता है कि यशोलिप्सा भी उन्हें नहीं थी। उन्होंने जो कुछ कहा है वह केवल कवि-चातुर्य के फेर में पड़कर नहीं वरन् इसलिए कि अपने हृदय की अनुभूति को बिना प्रकट किए उन्हें चैन नहीं मिलता था। यही आकुलता कविता को स्वाभाविक प्रवाह देती है। प्रयत्नप्रसूत कविता वास्तविक कविता नहीं कही जा सकती। उसमें कविता का बहिरंग हो सकता है पर यह आवश्यक नहीं कि जहां कविता का बहिरंग दिखाई दे वहीं उसका अभ्यन्तर भी मिल जाए। सच्ची सजीव कविता के लिए यह आवश्यक है कि कवि की मनोवृत्तियां वर्ण्य विषय के साथ एकाकार हो जाएं। जब कवि की सब भावनाएं एकमुख होकर कार्यरत हो उठती हैं तब कवि का हृदय स्वत ही भावुक उद्गारों के रूप में प्रकट होने लगता है। इस अभिव्यक्ति के लिए न तो कवि की ओर से प्रयत्न की आवश्यकता होती है और न कोई बाहरी

रुकावट ही उसे रोक सकती है। गोस्वामी जी में इस तल्लीनता की पराकाष्ठा हो गई थी। उनकी निःशेष मनोवृत्तियां रामाभिमुख होकर आगरित हुई थीं। भगवान् श्रीराम के साथ उनके मनोभावों का इतना तादात्म्य हो गया था कि जो कोई वस्तु उनके और राम के बीच व्यवधान होकर आए उससे कदापि उनके हृदय का लगाव नहीं हो सकता था। यही कारण है कि भगवान् राम के अतिरिक्त किसीके विषय में उन्होंने अपनी वाणी का उपयोग नहीं किया।

श्रीरामकथा का आदि स्रोत 'वाल्मीकीय रामायण' है। गोस्वामी जी ने भी प्रधान आश्रय इसी ग्रंथ का लिया था। आदि रामायणकार होने के कारण इन कवीश्वर की गोस्वामी जी ने वन्दना भी की है। इन्हींके साथ हनुमन्नाटककार कवीश्वर की भी वन्दना की है क्योंकि उन्होंने हनुमन्नाटक से भी सहायता ली है। इसके अतिरिक्त योगवाशिष्ठ अध्यात्मरामायण महारामायण भुशुण्डिरामायण [illegible]रामायण भगवद्गीता श्रीमद्भागवत भरद्वाजरामायण प्रसन्नराघव अनर्घराघव रघुवंश आदि सैकड़ों ग्रंथों की छाया रामचरितमानस में मिलती है।

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि गोस्वामी जी ने रामचरितमानस लिखने के लिए इन ग्रंथों को पढ़ा था। वे भगवान् राम के अनन्य भक्त थे इसलिए उन्होंने राम-सम्बन्धी सभी अन्य साहित्य पढ़ा था। सबके विवेकोचित त्याग और सारग्रहणमय अध्ययन से राम का जो मधुर लोक रंजक चरित्र उन्होंने निर्धारित किया उसीको उन्होंने रामचरितमानस के रूप में जगत के सामने रखा। इसी परित्याग और ग्रहण में उनकी मौलिकता है जिसका रूप उनकी प्रबन्ध-पटुता के योग से अत्यन्त पूर्णता के साथ खिल उठता है।

जिस प्रकार गोस्वामी जी का जीवन राममय था उसी प्रकार उनकी कविता भी राममय थी। श्रीराम चरित्र की व्यापकता में उन्हें अपनी कला के सम्पूर्ण कौशल के विस्तार का सुयोग प्राप्त था। उसीमें उन्होंने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय दिया। अन्तःप्रकृति

और बाह्य प्रकृति दोनों से उनके हृदय का समन्वय था। इसीसे उन्हें चरित्र-चित्रण और प्रकृति चित्रण दोनों में सफलता प्राप्त हुई। परन्तु गोस्वामी जी आध्यात्मिक धर्मशील प्रकृति के मनुष्य थे। सबके संरक्षक भगवान् श्रीराम के प्रेम ने उन्हें संरक्षण के मूल शीलमय धर्म का प्रेमी बनाया था। जिसके संरक्षण में उन्हें प्रकृति भी सम्पन्न दिखाई देती थी। पम्पासरोवर का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि निअराइ।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसम्पति पाइ॥
सुखी मीन सब एक रस अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्मसीलन्हि के दिन सुख संजुत जाहिं॥

प्राकृतिक दृश्यों में शील मर्यादित धर्मशीलता नीति की यह छाया उनके काव्यों में सर्वत्र दिखाई देती है। किष्किन्धाकाण्ड के अन्तर्गत वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णन इसके बहुत अच्छे उदाहरण हैं। यह गोस्वामी जी का महत्त्व है कि धर्ममाहात्म्य गुणोत्कर्ष आदि अलंकार-योजना के सामान्य नियमों का निर्वाह करते हुए भी वे शील और सुरुचि के प्रसार में समर्थ हुए हैं।

गोस्वामी जी का प्रकृति से परिचय केवल परम्परागत नहीं था। उन्होंने प्रकृति के परम्परागत प्रयोगों को स्वीकार किया है परन्तु वहीं तक जहाँ तक ऐसा करना सुरुचि के प्रतिकूल नहीं पड़ता। सीता जी के वियोग में विलाप करते हुए श्रीरामचन्द्र जी के इस कथन में—

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥
कुंदकली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी॥
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥

उन्होंने कविपरम्परा का ही अनुसरण किया है। ये उपमान न जाने कब से भिन्न-भिन्न अंगों की विशेषकर स्त्रियों के अंगों की सुन्दरता के प्रतीक समझे जाते हैं। मूल रूप में ये मनुष्य जाति की और विशेषकर

उनके भक्ति भावुक मन अर्थात् कविसमुदाय की निसर्ग-सौंदर्यप्रियता के द्योतक हैं। परन्तु आगे चलकर इनका प्रयोग केवल परम्परा-निर्वाह के लिए होने लगा। परन्तु गोस्वामी जी ने परम्परा के अनुसरण से ही सन्तोष किया हो ऐसी बात नहीं। उन्होंने अपने लिए अपने आप भी प्रकृति का पर्यवेक्षण किया था। उनके हृदय में प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित होने की क्षमता थी। उनके विशाल हृदय में जड़ और चेतन सृष्टि के मानो सब एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हुए उद्भासित होते हैं। उनकी दृष्टि में रसाभिपूरित हृदय को लेकर रामचन्द्र जी को मनाकर सीता लाने के लिए जानेवाले शीलनिधान भरत के उद्देश्य में प्रकृति की भी सहानुभूति है। इसीलिए उनके मार्ग को सुगम बनाने के लिए—

किये जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।

प्रकृति की सरल सुन्दरता उनको सहज ही आकर्षित कर लेती थी। पक्षियों का कलरव जिसमें वे परमात्मा का गुणगान सुनते थे उन्हें आनन्दप्रद प्रतीत होता था—

बोलत जल कुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥
सुन्दर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बुलाई॥

कोकिला की मधुर ध्वनि उन्हें इतनी मनमोहक जान पड़ती थी कि उससे मुनियों का भी ध्यान भंग हो जाए।

'जड़ चेतन जीव-जन्तु सबको राममय देखनेवाले गोस्वामी जी का हृदय यदि प्रकृति की सुन्दरता के आगे उमंग न पड़ता तो यह आश्चर्य की बात होती।

प्रकृति-सौंदर्य के लिए उनके हृदय में जो कोमल स्थान था उसी का प्रमाण है कि हिन्दी में स्वीकृत विवरणमात्र दे देने की परम्परा से ऊपर उठकर कहीं-कहीं उनकी प्रतिभा ने प्रकृति के पूर्ण चित्र का निर्माण किया है। प्राकृतिक दृश्यों के यथातथ्य चित्रण की जो क्षमता जब-तब गोस्वामी जी में दिखाई देती है वह हिन्दी के और किसी कवि में देखने को नहीं मिलती।

लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी॥

इसी एक चौपाई में गोस्वामी जी ने चित्रकूट और उसके तल पर बहनेवाली मन्दाकिनी का सुन्दर तथा यथातथ्य चित्र अंकित कर दिया है और साथ ही तीर्थ का माहात्म्य भी कह दिया है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत का इतना सार्थक समन्वय गोस्वामी जी की ही रचना का कौशल है।

इसी प्रकार पंपासरोवर तथा जल पीने के लिए आए हुए मृगों के झुंड का यह चित्र भी वस्तुस्थिति को ठीक ठीक आँखों के सामने खींच देता है—

जहँ तहँ पियहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदार गृह जाचक भीरा॥

मनुष्य भी प्रकृति का ही एक अंग है। उसकी बाहरी चालढाल, मुद्रा, आकार आदि का वर्णन भी बाह्य प्रकृति के वर्णन के ही अन्तर्गत समझना चाहिए। गोस्वामी जी ने इसके चित्रण में भी अपना कौशल दिखलाया है। मृगया करते हुए श्रीरामचन्द्र की मूर्ति उनके हृदय में विशेष रूप से बसी हुई थी। उस मूर्ति का चित्र खींचते हुए उन्होंने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय दिया है। 'जटा मुकुट सिर सारस नयननि गौंहें तकत सुभौंह सकोरे।' और भी—

सोहति मधुर मनोहर मूरति हेमहरिन के पाछे।
धावनि नवनि बिलोकनि बिथकनि बसै तुलसि उर आछे॥

मृग के पीछे दौड़ते हुए, बाण छोड़ने के लिए झुकते हुए, मृग के भाग जाने पर दूर तक दृष्टि डालते हुए और हारकर परिश्रम जताते हुए राम का कैसा सजीव चलचित्र आँखों के सामने आ जाता है! बाह्यप्रकृति से भी अधिक गोस्वामी जी की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि अन्तःप्रकृति पर पड़ी थी। मनुष्य-स्वभाव से उनका सर्वांगीण परिचय था। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में पड़कर मन की क्या दशा होती है इसको वे भली भाँति जानते थे। इसीसे उनका चरित्र-चित्रण बहुत पूर्ण और दोष रहित हुआ।

रामचरितमानस में प्राय सभी प्रकार के पात्रो के चरित्र-अंकन मे उन्होंने अपनी सिद्धहस्तता दिखाई है। दूसरे के उत्कर्ष को अकारण ही न देख सकने वाले दुर्जन जिस प्रकार किसी दूसरे व्यक्ति को अपने पक्ष म करने के लिए पहले स्वय स्वार्थ-त्यागी बनकर अपने को उनका हितैषी बताकर उनके हृदय मे अपने भावो को भरते है, इसका मन्थरा के चरित्र मे हमे अच्छा दिग्दर्शन मिलता है। दुर्जनों की जितनी चालें होती है उन्हीके दिग्दर्शन के लिए मानो सरस्वती मन्थरा की जिह्वा पर बैठी थी।

जिस पात्र को जो स्वभाव देना उन्हे अभीष्ट था उसे उन्होंने कामल वय म बीजरूप म दिखलाकर, आगे बढ़ते हुए भिन्न-भिन्न परिस्थितियों म उनका नैसर्गिक विकास दिखाया है। श्रीरामचन्द्र जी के जिस स्वार्थ त्याग को हम बाहुबल से जीते हुए लका के समृद्ध राज्य को बिना हिचक विभीषण को सौंप देने मे देखते है वह सहसा आई हुई उमग का परिणाम नही है वह भी रामचन्द्र का बाल्यकाल ही से अभूतपूर्व विकास पाता हुआ स्वभाव ही है। उसे हम चौगान के खेल म छोटे भाइयो से जीतकर भी हार मानते हुए बालक राम मे अन्य पुत्रो की उपेक्षा कर बैठे पुत्र को ही राज्याधिकारी मानने वाली प्रथा को अन्यायपूर्ण विचार करते हुए युवा राम मे और फिर प्रसन्नता से राज्य छोड़कर ऋषि-मुनियो की भाति तपोमय जीवन बिताते हुए वनवासी राम मे देखते है।

रामचरितमानस म रावण का जितना चरित्र हमारी दृष्टि मे पड़ता है उसमे आदि मे अन्त तक उसकी एक विशेषता हम दिखाई देती है। वह है घोर भौतिकता। कदाचित् आत्मा की उपेक्षा करते हुए भौतिक शक्ति का अर्जन ही मोक्ष भी वो राक्षसत्व समझते थे। उसका अपार धन विश्वविश्रुत वैभव उसकी धर्महीन शासनप्रणाली जिसमे ऋषि मुनियों तक से कर लिया जाता था उसके राज्य भर म धार्मिक अभिरुचि का अभाव और धार्मिक उत्पीड़न ये सब उसके भौतिकवाद के द्योतक है। प्रश्न उठता है कि वह बड़ा तपस्वी भी तो था? किन्तु उसके तप से भी उसकी भौतिकता का ही परिचय मिलता है। वह तप उसने अपनी

आध्यात्मिक उन्नति या मुक्ति के उद्देश्य से नहीं किया था वरन् इस कामना से कि भौतिक सुख को भोगने के लिए वह इस शरीर में अमर हो जाए।

हनुमान् जी में गोस्वामी जी ने सेवक का आदर्श खड़ा किया है। वे भगवान् राम के सेवक हैं। गाढ़े समय पर जब सबका धैर्य और शक्ति जवाब दे जाती है तब हनुमान् जी ही से राम का काम सधता है। समुद्र को लाँघकर सीता की खबर वे ही लाए। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर द्रोणाचल पर्वत को उखाड़ ले आकर उन्होंने सजीवनी बूटी प्रस्तुत की। भक्त के हृदय में बसने की राम की प्रतिज्ञा जब व्यवधान में पड़ी तब उन्होंने अपना हृदय चीरकर उसकी सत्यता सिद्ध की। परन्तु हनुमान् जी के चरित्र में एक बात से कुछ असमंजस हो सकता है। वे सुग्रीव के सेवक थे। सुग्रीव से बढ़कर राम की भक्ति करके क्या उन्होंने सेवा-धर्म का व्यतिक्रम नहीं किया? नहीं, लंकाविजय तक वास्तव में उन्होंने सुग्रीव की सेवा कभी नहीं छोड़ी तथा और लोगों से कुछ दिन बाद तक जो वे अयोध्या में श्रीराम की सेवा करते रहे वह भी सुग्रीव की आज्ञा से—

दिन दस करि रघुपति-पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहउँ देवा॥
पुन्यपुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा-आगारा॥

इसी प्रकार भरत के हृदय की सरलता, निर्मलता, निःस्पृहता और धर्म-प्रवणता उनकी सब बातों से प्रकट होती है। राम खुशी से उनके लिए राज्य छोड़ गए हैं, कुल-गुरु वशिष्ठ उनको सिंहासन पर बैठने की अनुमति देते हैं, कौशल्या अनुरोध करती हैं, प्रजा प्रार्थना करती है, परन्तु सिंहासनासीन होना तो दूर रहा वे इसी बात से क्षुब्ध हैं कि लोग कैकेयी के कुचक्र में उनका हाथ न देखें। वे माता से उसकी कुटिलता के लिए रुष्ट हैं। परन्तु साथ ही वे अपने को माता से अच्छा भी नहीं समझते, इसीमें उनके हृदय की स्वच्छता है। जब माता ही बुरी है तो पुत्र कैसे अच्छा हो सकता है!—

मातु मंदि मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥

सिंहासन स्वीकार करने के लिए आग्रह करने वाले लोगों से उन्होंने कहा था—

कैकेयी सुत कुटिलमति राम-विमुख गतलाज।
तुम्ह चाहत सुख मोह बस मोहि से अधम के राज॥

भरत के संबंध में चाहे यह न घटती और वे प्रजा का पालन बड़े प्रेम से करते जैसा उन्होंने किया भी परन्तु उनका राज्य स्वीकार करना महत्त्वाकांक्षी राजकुमारों और दर्पपूर्ण सौतों के लिए एक बुरा मार्ग खोल देता जिससे प्रत्येक अभिषेक के समय किसी न किसी कांड की आशंका बनी रहती है। इसी बात को दृष्टि में रखकर सम्भवतः उन्होंने कहा था—

मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥

भरत की लोक-मर्यादा की जिसका ही दूसरा नाम धर्म है रक्षा की इस चिन्ता ने ही राम को 'भरत भूमि रह राउरि राखी' कहने के लिए प्रेरित किया था। उमड़ते हुए हृदय और बाष्प अवरुद्ध कंठ से भरत के राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट पहुँचने पर जब राम ने उनसे अपना धर्म-संकट बतलाया तब उसी धर्म-प्रवणता ने उन्हें राज्य का भार स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। परन्तु उन्होंने केवल राजा के कर्तव्य की कठोरता को स्वीकार किया उसके सुख-वैभव को नहीं। सुख-वैभव के स्थान पर उन्होंने वनवासी का कष्टमय जीवन स्वीकार किया जिससे उनके उदाहरण से धर्मोल्लंघन की आशंका दूर हो जाए।

परन्तु वास्तविक मानव-जीवन इतना सरल नहीं है जितना सामान्यतः बाहर से दीखता है या ऊपर के वर्णन से प्रकट हो सकता है। मनुष्य के स्वभाव में एक ही भावना की प्रधानता नहीं रहती। प्रायः एक से अधिक भावनाएं उसके जीवन में स्थिर होकर उसके स्वभाव की विशेषता लक्षित कराती हैं। जब कभी ऐसी दो भावनाएं एक दूसरे की विरोधिनी होकर आती हैं तब यदि कवि इनके चित्रण में किंचित् भी असावधानी करे तो उसका चित्रण सदोष हो जाय। उदाहरण के लिए गोस्वामी जी

में लक्ष्मण की प्रचंड प्रकृति दी है परन्तु साथ ही उनके हृदय में राम के लिए अगाध भक्ति का भी सृजन किया है। जहां पर इन दोनों बातों का विरोध न होना वहां पर इसके चित्रण में उतनी कठिनाई नहीं हो सकती। जनक के 'बीर बिहीन मही मैं जानी' कहते ही वे तमककर कह उठते हैं—

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥

परशुराम के रोषभरे वचनों को सुनकर वे खरी-खोटी सुनाने में कुछ उठा नहीं रखते—

भृगुबर परसु देखावहु मोहीं। बिप्र बिचारि बचउँ नृपद्रोही॥
मिले न कबहूँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहि के बाढ़े॥

और भरत को ससैन्य चित्रकूट की ओर आते देख राम के अनिष्ट की आशंका होते ही वे बिना आगा-पीछा सोचे भरत का काम तमाम कर डालने के लिए उद्यत हो जाते हैं—

जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥

इसी प्रकार भरत राम-भक्ति का परिचय भी उनके जीवन के चाहे जिस अंश में देखने को मिलेगा। गोस्वामी जी के कौशल की परख वहां पर हो सकती है जहां पर राम के प्रति भक्तिभावना और सहज प्रचंड प्रकृति एक दूसरे के विरुद्ध होकर आवें। यदि ऐसे स्थल पर दोनों भावों का निर्वाह हुआ तो समझना चाहिए कि वे चरित्र-चित्रण में कृतकार्य हुए हैं।

भगवान् श्री रामचन्द्र जी को कैकेयी ने बन जाने का उपदेश दिया है। वचनबद्ध दशरथ 'नाहीं' नहीं कर सकते हैं। ऐसे अवसर पर यह आशा करता कि लक्ष्मण क्रोध से तिलमिलाकर धनुष-बाण लेकर सबका विनाश करने के लिए उद्यत हो जाएंगे स्वाभाविक ही है। परन्तु देखते हैं कि गोस्वामी जी ने लक्ष्मण से इस समय ऐसा कुछ भी नहीं करवाया है। परन्तु यह जितना ही सामान्य पाठक की आशा के विरुद्ध हुआ है उतना

ही अप्रयोजन भी है क्योंकि यहाँ पर क्रोध प्रकट करना लक्ष्मण के स्वभाव के विपरीत होता। ऐसा करने में वे राम की रुचि के विरुद्ध काम करते। लक्ष्मण को वनवास की आज्ञा का तब पता चला जब राम वन के लिए तैयार हो चुके थे। एक पदानुसारी पुरुष की भाँति वे भी चुपचाप वन जाने की तैयारी करने लगे। यह बात नहीं कि उन्हें क्रोध न हुआ हो क्रोध हुआ अवश्य था परन्तु उन्होंने उसे दबा लिया। ससैन्य भरत को चित्रकूट आते हुए देखकर—

आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिलि आजू॥

कहकर उन्होंने जिस रिस का उल्लेख किया है वह यही रिस था जिसे उन्होंने उस समय प्रकट नहीं होने दिया था। गोस्वामी जी ने भी इस अवसर की गम्भीरता की रक्षा के उद्देश्य से लक्ष्मण के मन की दशा का उल्लेख नहीं किया।

इसी प्रकार लंका जाने के लिए प्रस्तुत श्रीरामचन्द्र जी ने ३ दिन तक समुद्र से रास्ता देने के लिए विनय की। लक्ष्मण को विनय की बात पसन्द न आई। जब रामचन्द्र जी ने समुद्र को अग्निबाण से सोखने का विचार करके धनुष लीना तब लक्ष्मण की प्रसन्नता दिखलाकर गोस्वामी जी ने इस प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है।

भावप्रबलता का एक और उदाहरण लीजिए। कैकेयी के कहने पर रामचन्द्र जी ने वन जाने का निश्चय कर लिया है। इस समय दशरथ का राम-प्रेम और उनकी सत्यप्रतिज्ञता दोनों कसौटी पर हैं और उनके साथ-साथ गोस्वामी जी का चरित्र-चित्रण का कौशल भी है। पहले तो वन जाने की आज्ञा गोस्वामी जी ने दशरथ के मुँह से नहीं कहलवाई है। 'तुम वन चले जाओ' अनन्य प्रेम के कारण दशरथ यह कह नहीं सकते थे। वे नहीं चाहते थे कि राम वन जाएँ। वे चाहते तो इस समय अपने वचन की अवहेलना करके रामचन्द्र को वन जाने से रोकने का प्रयत्न कर सकते थे। परन्तु वचन भंग करने का विचार भी उनके मन में नहीं आया। हाँ वे मन ही मन देवता को मनाते रहे कि राम स्वयं ही—

बचनु मोर तजि रहहिं घर परिहरि सीलु सनेहु ॥

सत्यप्रतिज्ञ दशरथ अपमानित पिता होकर रहना अच्छा समझते थे परन्तु राम का विछोह उन्हें असह्य था। उनका यह राम-प्रेम कोई छिपी बात नहीं थी। कैकेयी को समझाती हुई विप्रवधुओं ने कहा था—'नृप कि जिइहि बिनु राम'। लक्ष्मण को समझाते हुए राम ने इस आशंका की ओर संकेत किया था—'राउ वृद्ध मम दुख मन माहीं'। हुआ भी यही। वचन की रक्षा में जो राजा छाती पर पत्थर रखकर प्रिय पुत्र राम को वन जाते हुए देखते हैं उन्हींको हम राम के विरह में स्वर्ग जाते हुए देखते हैं।

यहाँ मानव-मनोवृत्तियों के सूक्ष्म ज्ञान ने गोस्वामी जी के चरित्र विधान में स्वाभाविकता की प्राणप्रतिष्ठा कराई वहाँ साथ ही उसने रस की धारा बहाने में भी उनकी सहायता दी क्योंकि रसों के आधार भाव ही हैं। गोस्वामी जी केवल भावों के शुष्क मनोवैज्ञानिक विश्लेषक न थे उन्होंने उनके हलके और गहरे रूपों को एक दूसरे के साथ संश्लिष्ट दशा में देखा था जैसा कि वास्तविक जगत् में देखा जाता है। रामचरितमानस की विस्तीर्ण भूमि में इसीलिए स्वाभाविक संयोग से उनकी रसप्रसविनी लेखनी सब रसों की धारा बहाने में समर्थ हुई है। प्रेम को उन्होंने कई रूपों में स्थापित किया है। पुत्रविषयक रति दाम्पत्य प्रेम वात्सल्य भगवद्विषयक रति या निर्भर भक्ति इस रामचरितमानस में पूर्णता को पहुँचे हुए मिलते हैं। गुरुविषयक रति का आदर्श हम विश्वामित्र के ऐसे राम-लक्ष्मण देते हैं जो गुरु से पहले जागकर उनकी सेवा-शुश्रूषा में संलग्न दिखाई देते हैं। भगवद्विषयक रति की सबसे गहरी अनुभूति उनकी विनयपत्रिका में होती है यद्यपि उनके अन्य ग्रंथों में भी इसकी कमी नहीं है। शृंगार रस के प्रवाह में पाठकों को आप्लुत करने में गोस्वामी जी ने कोई कसर नहीं रखी है। परन्तु उनका शृंगार रस रीतिकाल के शृंगारी कवियों के शृंगार की भाँति कामुकता का नग्न नृत्य न होकर सर्वथा मर्यादित है। शृंगार रस यदि अश्लीलता से बहुत दूर पवित्रता की

उच्च भूमि म उठा है तो वह गोस्वामी जी की कविता में। जहां परमभक्त सूरदास भी अश्लीलता के पंक म पड गए हैं वहां गोस्वामी जी ने अपनी कविता मे लेशमात्र भी दुर्भावना नहीं आने दी है—

करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान।
मुखसरोज मकरंद छबि करइ मधुप इव पान ॥
देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि ॥

सचमुच सरल प्रेममय यह जोडी हर एक के हृदय मे घर कर लेती है। जिसने इनका यशोगान करती हुई गोस्वामी जी की वाणी धन्य है जिसने वासना-विहीन शुद्ध दाम्पत्य प्रेम का यह परम पवित्र चित्र लोक के समक्ष रखा है। जब कोई विदेशी कहता है कि हिन्दी के कवियो ने प्रेम को वासना और स्त्री को पुरुष के विलास की ही सामग्री समझकर हिन्दी साहित्य को गन्दगी से भर दिया है तब 'यह लाञ्छन सर्वांश मे सत्य नहीं है' यह सिद्ध करने के लिए गोस्वामी जी की रचनाओ की ओर आसानी से संकेत किया जा सकता है।

गोस्वामी जी ने विप्रलम्भ शृंगार की मृदुल कठोरता भी सीता जी के हरण के समय भगवान् राम के विलाप मे पूर्णतया प्रस्फुट होती है।

करुणरस की धारा राम के वनवासी होने पर और लक्ष्मण को शक्ति लगने पर फूट पडती है। राम के वनवासी होने पर तो शोक की छाया मनुष्यो ही पर नहीं पशुओ पर भी पडी। जिस रथ पर राम को सुमन्त्र कुछ दूर तक पहुचा आया था लौट आने पर उसमे जुते हुए घोड़ों की आकुलता देखिए—

देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिन पंख बिहँग अकुलाहीं ॥
नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जल मोचहिं लोचन बारि ॥

घोड़ो की जब यह दशा थी तब पुरवासियो की और विशेषकर उनके कुटुम्बीजनों की क्या दशा हुई होगी।

जनक के 'वीरविहीन मही मैं जानी' कहने पर लक्ष्मण की आकृति

जो परिवर्तन हुआ उसमें मूर्तिमान रौद्ररस के दर्शन होते हैं—

माखे लखनु कुटिल भईं भौंहें । रदपट फरकत नयन रिसौंहें ।।

और वीभत्सरस का तो मानो लंकाकांड भोज ही है। शिव धनुष के भंग होने पर चारो ओर जो आतंक छा जाता है उसमे भयानक रस की अनुभूति होती है—

भरे भुवन घोर कठोर रव रविबाजि तजि मारगु चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ।।
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं।

श्री रामचन्द्र जी ने सती और कौशल्या को एक ही साथ कई रूप दिखला-कर उन्होंने अद्भुत रस का चमत्कार दिखलाया। शिवजी की बरात के वर्णन और नारद-मोह में हास्यरस के फुहारे छूटते हैं। स्वयं राम-कथा के भीतर कृत्रिम रूप बनाकर आई हुई वास्तव में कुरूपा शूर्पणखा के राम के प्रति इस वाक्य से ओठ पुलक ही जाते हैं—

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी । यह सँजोग बिधि रचा बिचारी ।।
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं । देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ।।
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी । मन माना कछु तुम्हहि निहारी ।।

लक्ष्मण इसपर मन ही मन खूब हँसे थे। इसी कारण जब श्रीराम जी ने उसे उनके पास भेजा तो उनसे भी न रहा गया। बोल—उन्हीं के पास जाओ वे राजा हैं, उन्हें सब कुछ शोभा दे सकता है।

प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा । जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा ।।

ऐसा होने पर भी यह कहीं नहीं भान होता कि गोस्वामी जी ने प्रयत्न पूर्वक आलम्बन उद्दीपन संचारी आदि को जुगाकर रसपरिपाक का आयोजन किया हो। प्रबन्ध के स्वाभाविक प्रवाह के भीतर स्वतः ही रस की तरैया बंध गई हैं जिसमें जी भरकर डुबकी लगाकर ही साहित्यिक तैराक आने बन्ने का मान लेता है।

कला का एक प्रधान उद्देश्य जीवन की व्याख्या करते हुए उसे किसी उच्चतम आदर्श में ढालने का प्रयत्न करना है। भावाभिव्यक्ति में जिनकी

सरलता होगी उतनी ही इस उद्देश्य में सफलता भी होगी। कला के इसी उद्देश्य ने गोस्वामी जी को संस्कृत का विद्वान होने पर भी उन्हें देववाणी की ममता छोड़कर जनवाणी का आश्रय लेने के लिए बाध्य किया था। संस्कृत जिसमें अब तक रामकथा सुरक्षित थी अब जन साधारण की बोलचाल की भाषा न रहकर पण्डितों के ही मंडल तक बंधी रह गई थी। इससे रामचरित का आनन्दपूर्ण लाभ सर्व साधारण न उठा सकते थे। इसीसे गोस्वामी जी को भाषा में रामचरित लिखने की प्रेरणा हुई, पर पण्डित लोगों में उस समय भाषा का आदर न था। भाषा की कविता को वे हेय समझते थे।—

भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसें नहिं खोरी॥

परन्तु गोस्वामी जी ने उनकी हँसी की कोई परवाह नहीं की क्योंकि वे जानते थे कि वही वस्तु मानास्पद है जो उपयोगी भी हो। जो किसी के काम न आवे उसका मूल्य ही क्या ?

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहियत साँच।
काम जो आवै कामरी का लै करै कमाच॥

अतएव उन्होंने भाषा ही में कविता की और इस प्रकार रामचरित को देश भर में घर-घर प्रचार का उपक्रम किया।

दिग्दर्शनमात्र कराने के लिए हम गोस्वामी तुलसीदास जी की प्रबन्ध रचना का एक उदाहरण देते हैं। कथा बालकांड की है। धनुष टूट चुका है। सीता जी सखियों को साथ लिए हुए रामचन्द्र जी को जयमाल पहनाने के लिए आ रही हैं। उनके रूपलावण्य को देखकर दुष्टप्रकृति के राजा लोग जो धनुष न तोड़ सकने के कारण लज्जित हो चुके हैं क्रोधान्वित हो गए और—

उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे॥
लेहु छुड़ाय सीय कहँ कोऊ। धरि बाँधहु नृप-बालक दोऊ॥
तोरें धनुष चाड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँवरि को बरई॥
जो बिदेह कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥

इस प्रकार स्थिति भयावह हो चली थी । यदि लड़ाई छिड़ जाती तो रक्त-पात हुए बिना न रहता । अतएव गोस्वामी जी ने अपनी प्रबन्ध-पटुता का यहाँ स्पष्ट परिचय दे दिया है । उन्होंने वाल्मीकि जी के दिए हुए घटना क्रम को बदलकर इस स्थिति को सम्भाल लिया ।

अरभर देखि बिकल नरनारी । सब मिलि देहि महीपन गारी ।
तेहि अवसर सुनि सिवधनु भंगा । आये भृगुकुल कमल पतंगा ॥
देखि महीप सकल सकुचाने । बाज झपट जनु लवा लुकाने ।
गौर सरीर भूति भलि भ्राजा । भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा ॥
सीस जटा ससि बदन सुहावा । रिसबस कछुक अरुन होइ आवा ।
भृकुटी कुटिल नयन रिसराते । सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते ॥
बृषभ कंध उर बाहु बिसाला । चारु जनेउ माल मृगछाला ॥
कटि मुनि-बसन तून दुइ बाँधे । धनुसर कर कुठार कल काँधे ॥

संतवेष करनी कठिन बरनि न जाइ सरूप ।
धरि मुनितनु जनु बीररसु, आयेउ जहँ सब भूप ॥

देखत भृगुपति वेषु कराला । उठे सकल भय बिकल भुआला ।
पितु समेत कहि निज निज नामा । लगे करन सब दंड प्रनामा ॥
जेहि सुभाय चितवहि हितु जानी । सो जानै जनु आइ खुटानी ॥

इस भारी परिस्थिति में परशुराम आये और कुटिल राजाओं की सेना हारना भय होकर उनको अपनी रक्षा की चिन्ता ने घेर लिया ।

ऐसी पटुता गोस्वामी जी ने अनेक स्थलों पर दिखाई है । पर यहाँ तो उदाहरणस्वरूप एक घटना का उल्लेखमात्र कर दिया गया है ।

महाकवि तुलसीदास का जो व्यापक प्रभाव भारतीय जनता पर है उसका कारण उनकी उदारता उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उदारता की महत्ता आदि तो है ही साथ ही उसका सबसे बड़ा कारण है उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति । 'नाना पुराणनिगमागमसम्मतं' रामचरितमानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है सत्य है । भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को गोस्वामीजी

मे विविध शास्त्रो से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हें अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्ययन का विस्तार अत्यधिक था परन्तु उन्होंने राम-चरितमानस मे प्रधानत वाल्मीकिरामायण का आधार लिया है। साथ ही उसपर वैष्णव महात्मा रामानन्द की छाप स्पष्ट देख पडती है। उसके रामचरितमानस मे मध्यकालीन धर्म-ग्रथो—विशेषत अध्यात्मरामायण योगवासिष्ठ तथा अद्भुत रामायण—का प्रभाव कम नही है। भुशुण्डि रामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रथो का ऋण भी गोस्वामी जी पर है। इस प्रकार हम देखते है कि वाल्मीकिरामायण की कथा लेकर उसम मध्यकालीन धर्मग्रथो के तत्वो का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया वह उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ मौलिकता का भी परिचायक है।

गोस्वामी जी की समस्त रचनाओ म उनका रामचरितमानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारत म घर-घर है। गोस्वामी जी का स्थायित्व और गौरव इसीपर सबसे अधिक अवलम्बित है। रामचरितमानस करोड़ो भारतीयों का परमाप्त धर्म ग्रन्थ है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में वेद उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते है उसी प्रकार आज संस्कृत का लेशमात्र ज्ञान न रखने वाली जनता भी करोडों की सख्या म रामचरितमानस को पढती और वेद आदि की ही भाति उसका सम्मान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नही है कि गोस्वामी जी के अन्य ग्रन्थ निम्नकोटि के है। गोस्वामी जी की प्रतिभा सबमे समान रूप से लक्षित होती है किन्तु रामचरितमानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामी जी ने हिन्दू धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र म अन्तर्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए राजा प्रजा ऊँच-नीच द्विज-शूद्र आदि सामाजिक पुत्रों के साथ माता-पिता गुरु भाई आदि पारिवारिक सम्बन्धो का कैसा

निर्वाह होना चाहिए आदि जीवन के गंभीर प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रन्थ में मिलता है। हिन्दुओं के सब देवता उनको मान्य रीति-नीति वर्ण-आश्रम-व्यवस्था तुलसीदास जी को स्वीकार है। शिव उनके लिए उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं रामचन्द्र। वे भक्त होते हुए भी ज्ञानमार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं। संक्षेप में वे व्यापक हिन्दू धर्म के सम्मिलित स्वरूप हैं और उनके रामचरितमानस में उनका यह रूप बड़ी ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट रामभक्ति ने उन्हें इतना ऊँचा उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मानकर, आनंदमग्न होकर, हम उसके विधि-निषेधों को चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे भूभाग में नहीं सारे उत्तर भारत में करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आज उनका रामचरितमानस हमारी सारी समस्याओं का समाधान करने वाला और अनंत कल्याणकारी माना जाता है। इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है।

ऊपर के विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि गोस्वामी जी ने अध्ययन और प्रतिभा के बल से ही अपने ग्रन्थों की रचना की तथा वे स्वतः अपनी रचनाओं के साथ एकाकार नहीं हुए। न उसका यही आशय है कि सामाजिक धर्म जाति-पाँति की व्यवस्था देवता-देवी की पूजा ही गोस्वामी जी की रचना की प्रधान वस्तु है। वास्तविक बात तो यह है कि गोस्वामी जी भारतीय आध्यात्मिक साधना की धारा में पूर्णरूप से निमज्जित हो चुके थे और उनका सर्वोपरि ध्येय उस साधना को जनता के जीवन में भर देना था। काव्य या साहित्य की रचना अथवा वर्णाश्रम धर्म की रक्षा का प्रयास तो आनुषंगिक रूप से गोस्वामी जी के लक्ष्य थे। उपासना के क्षेत्र में और भक्ति के ओज में डूबे हुए थे। राम की भक्ति ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था और उसी उद्देश्य से वे अन्य समस्त कार्य करते थे। भारत की चिर प्रचलित आध्यात्मिक साधना को सामयिक साँचे में ढालकर और उसे रामकथा के प्रबन्ध में

सन्निहित कर उन्होंने जन-समाज के मानस को आप्लावित कर दिया। इस देश का कोई कवि सामूहिक ख्याति प्राप्त करने के लिए अध्यात्मविद्या का मन नहीं छोड़ सकता। विशेषतः जिस कवि का मुख्य उद्देश्य समाज को भक्ति की धारा में निष्णात करना रहा हो उसे तो स्वतः अध्यात्म शास्त्र का साधक और अनुयायी होना ही चाहिए। गोस्वामी जी भी ऐसे ही कवि थे।

कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने नर-काव्य नहीं किया। केवल एक स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशंसा में दो-चार दोहे कहे हैं। अन्यत्र अपने उपास्य देव राम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियों का राम-कथा के प्रसंग में नाम लिया है।

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।

का संकेत इस तथ्य की ओर है। यद्यपि गोस्वामी जी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग राम-गुण-कीर्तन में ही किया है, पर रामचरित के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श प्रस्फुटित हुए हैं वे मनुष्यमात्र के लिए कल्याणकर हैं। दोहावली में उन्होंने सच्चे प्रेम की जो भाषा चातक और घन के प्रेम में दिखलाई है, अलोकोपयोगी उच्छृंखलता का जो लक्षण साखी-सबदी-दोहरा आदि की निन्दा करके किया है, रामचरितमानस में मर्यादावाद की जैसी सुन्दर पुष्टि गुरु की अवहेलना के लिए शिष्य को दंडित करके की है, राम राज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रखा है उसमें और ऐसे ही अनेक प्रसंगों में गोस्वामी जी की मनुष्यमात्र के प्रति हितकामना स्पष्टतः झलकती देखी जाती है। उनके अमर काव्य में मानवता के निर्मल आदर्श भरे पड़े हैं।

यह सब होते हुए भी तुलसीदास जी ने जो कुछ लिखा है स्वान्तः सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा पाण्डित्य-प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने

के कारण स्वामित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र मिलना असम्भव है। गोस्वामी जी की यह विशेषता उन्हें हिन्दी कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का भद्दा प्रदर्शन करने वाले कवियों से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेने वाले नीतिवादी भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से तुलसी की प्राञ्जलता, माधुर्य और ओज अनुपम तथा मानव जीवन का सर्वांग निरूपण अप्रतिम हुआ है। मर्यादा और संयम की साधना में गोस्वामी जी संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं तब उनकी यथार्थ महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है।

गोस्वामी जी की रचनाओं का महत्त्व उनमें व्यक्ति भावों की विशदता और व्यापकता से ही नहीं उनकी मौलिक उद्भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों से भी है। यद्यपि रामायण की कथा उन्हें महर्षि वाल्मीकि से बनी-बनाई मिल गई थी परन्तु उसमें भी गोस्वामी जी ने यथोचित परिवर्तन किए हैं। सीता-स्वयंवर से पूर्व फुलवारी का मनोरम वर्णन तुलसीदास जी की अपनी उद्भावना है। धनुष-भंग के पश्चात् परशुराम जी का आगमन उन्होंने अपनी प्रबन्ध-पटुता के प्रतीक-स्वरूप रखा है। कितनी ही मर्मस्पर्शिनी घटनाएं गोस्वामी जी ने अपनी ओर से सन्निहित की हैं जैसे सीता जी का अशोक वन में विरह-पीड़ित अवस्था में अशोक से आग मांगना और तत्क्षण हनुमान् जी का मुद्रिका गिराना। हनुमान्, विभीषण, सुग्रीव आदि राम भक्तों का चरित्र तुलसीदास जी ने विशेष सहानुभूति के साथ अंकित किया है। गोस्वामी जी के भरत तो गोस्वामी जी के ही हैं—भक्ति की मूर्ति। अपने युग की छाप भी रामचरित-मानस में मिलती है, जिससे वह युग-प्रवर्तक ग्रंथ बन सका है। कलियुग के वर्णन में उन्होंने सामयिक स्थिति का व्यंग्यपूर्ण चित्र उपस्थित किया

है। ये सब तुलसी की अपनी मौलिकताए हैं जिनके कारण उनका मानस
अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे लिखे हुए राम-कथा के ग्रन्थो की अपेक्षा कही
अधिक महत्त्वपूर्ण और काव्यगुणोपेत बन सका। पूरे ग्रन्थ मे उपमाओ
और रूपकादि अलकारो की नैसर्गिकता चित्त को विमुग्ध करती है। वह
समस्त वर्णन और ये अलकार कविवद्ध या अनुकरणशील कवि मे आ ही
नहीं सकते। गोस्वामी जी मे सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि की इसका
परिचय स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है। वे कोरे भक्त ही नहीं थे प्रत्युत
मानवचरित्र उसकी सूक्ष्मताओ और अपुकुटिल गतियो के पारखी भी
थे यह रामचरितमानस मे सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। मथरा के प्रसग
मे गोस्वामी जी का यह चमत्कार स्पष्ट लक्षित है। कैकेयी की आत्म
ग्लानि भी उन्होंने मौलिक रूप से प्रकट कराई है। ऐसे ही अन्य अनेक
स्थल हैं। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खडा करने की क्षमता हिन्दी के
कवियो मे बहुत कम है परन्तु गोस्वामी जी ने चित्रकूट-वर्णन मे सस्कृत
कवियो से टक्कर ली है। इतना ही नहीं भावो के अनुरूप भाषा लिखने
तथा प्रबन्ध मे सम्बन्धनिर्वाह और चरित्र-चित्रण का निरन्तर ध्यान
रखने मे वे अपनी समता नहीं रखते। उत्कट रामभक्ति के कारण उनके
रामचरितमानस मे उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह-सा बहा है वह तो
वाल्मीकिरामायण से भी अधिक गम्भीर और पूत है।

जायसी ने जिस प्रकार दोहा चौपाई छन्दों मे अवधी भाषा का आश्रय
लेकर अपनी पद्मावत लिखी है कुछ वर्षों के पश्चात् गोस्वामी तुलसीदासजी
ने भी उसी अवधी भाषा मे उन्ही दोहा-चौपाई छन्दो मे अपनी प्रसिद्ध
रामायण की रचना की। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि जायसी
सस्कृतज्ञ नहीं थे अत उनकी भाषा ग्रामीण अवधी थी उसमे साहित्यि
कता की छाप नहीं थी। परन्तु गोस्वामी जी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे
अत उन्होंने कुछ स्थानो पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकाश
स्थलों मे संस्कृत-मिश्रित अवधी का व्यवहार किया है। इससे इनके
रामचरितमानस मे प्रसंगानुसार उपयुक्त दोनो प्रकार की भाषाओं का

माधुर्य दिखाई देता है। यह तो हुई उनके रामचरितमानस की बात। उनकी विनयपत्रिका गीतावली और कवितावली आदि में ब्रजभाषा व्यवहृत हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी यह ब्रजभाषा विकसित होकर गोस्वामी जी के समय तक पूर्णतया साहित्य की भाषा बन चुकी थी क्योंकि इसमे सूरदास आदि भक्त कवियो की विस्तृत रचनाएं हो रही थी। गोस्वामी जी ने ब्रजभाषा म भी अपनी संस्कृत पदावली का सम्मिश्रण किया और उसे उपयुक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहा एक ओर जायसी और सूर ने क्रमश: अवधी और ब्रजभाषा मे ही काव्य रचना की थी वहा गोस्वामी जी का इन दोनो भाषाओ पर समान अधिकार हुआ और इन दोनो मे संस्कृत के समावेश मे नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो उनकी अपनी है।

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रन्थो म जिस प्रकार भाषा भेद है, उसी प्रकार छन्द भेद भी है। रामचरितमानस म उन्होंने जायसी की तरह दोहे-चौपाइयो का क्रम रखा है; परन्तु साथ ही हरिगीतिका आदि लम्बे तथा सोरठा आदि छोटे छन्दो का भी बीच-बीच में व्यवहार कर उन्होंने छन्द-परिवर्तन की ओर ध्यान रखा है। रामचरितमानस के लकाकाण्ड में जो युद्धवर्णन है उसम चन्द आदि वीर कवियो के छन्द भी लाए गए हैं। कवितावली में सवैया और कवित्त छन्दों म कथा कही गई है जो भाटो की परम्परा के अनुसार है। इसम राजा राम की राजश्री का जो विशद वर्णन है उसके अनुकूल कवित्त छन्द का व्यवहार उचित ही हुआ है। विनयपत्रिका तथा गीतावली आदि मे ब्रजभाषा के सगुणोपासक सन्त-महात्माओं के गीतो की प्रणाली स्वीकृत की गई है। गीत काव्य का सृजन पाश्चात्य देशो में सगीत शास्त्र के अनुसार हुआ है। वहा की लीरिक कविता प्रारम्भ मे वीणा के साथ गाई जाती थी। ठीक उसी प्रकार हिन्दी के गीत-काव्यों में भी संगीत के राग-रागिनियों को ग्रहण किया गया है। दोहावली बरवै रामायण आदि मे तुलसीदास जी

मे छोटे छन्दों मे नीति आदि के उपदेश दिए है अथवा अलंकारों की योजना के साथ फुटकर भावव्यंजना की है। सारांश यह कि गोस्वामी जी ने अनेक शैलियो मे अपने ग्रंथो की रचना की है और आवश्यकतानुसार उनमें विविध छन्दो का प्रयोग किया है। इस कार्य मे गोस्वामी जी की सफलता विस्मयकारिणी है। हिन्दी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यंजना-शक्ति उनकी रचनाओं मे देख पडती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओ से हिन्दी मे पूर्ण प्रौढता की प्रतिष्ठा हुई है।

तुलसीदास जी के महत्त्व का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिए उनकी कृतियो की परीक्षा तीन प्रधान दृष्टियो से करनी पडेगी—भाषा की दृष्टि से साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृति के संरक्षण तथा उत्कर्ष-साधन की दृष्टि से। इन तीनो दृष्टियो से उनपर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है जिसके परिणामस्वरूप हम यहा कुछ बातो का स्पष्टत उल्लेख कर सकते है। हम यह कह सकते है कि गोस्वामी जी का ब्रज और अवधी दोनो भाषाओ पर समान अधिकार था और दोनों मे ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों मे दर्शनीय हुई है। छन्दो और अलंकारो का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से रामचरितमानस के जोड का दूसरा ग्रन्थ हिन्दी मे नहीं देख पडता। क्या प्रबन्ध-कल्पना क्या सम्बन्ध-निर्वाह क्या वस्तु एव भावव्यंजना सभी उच्च कोटि की हुई है। पात्रों के चरित्र-चित्रण मे सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति वर्णन में हिन्दी के कवि उनकी बराबरी नही कर सकते। अन्तिम प्रश्न संस्कृति का है। गोस्वामी जी ने देश के परम्परागत विचारों और आदर्शों का बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बडी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रन्थ आज जो देश की इतनी असंख्य जनता के लिए धर्मग्रन्थ का काम दे रहे हैं उसका कारण यही है। गोस्वामी जी हिन्दू जाति हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति को अक्षुण्ण रखने वाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी यश प्रशस्ति अमिट अक्षरों मे प्रत्येक हिन्दी भाषा भाषी

के हृदय-पटल पर अनन्त काल तक अंकित रहेगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। भारतीय समाज की संस्कृति और प्राचीन ज्ञान की रक्षा के लिए गोस्वामी जी का कार्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु गोस्वामी जी परम्परा रक्षा के लिए ही एकमात्र दत्तचित्त न थे। वे समय की स्थितियों और आवश्यकताओं को भी समझते थे तथा समाज को नवीन दिशा की ओर अग्रसर करने के प्रयास भी उन्होंने किए। आचार-सम्बन्धी जितनी शुद्धि और परिष्कार उन्होंने किया वह सब भारतीय जीवन को दृढ़ करने में सहायक बना। यह तो नहीं कहा जा सकता कि तुलसीदास जी परम्परा या रूढ़ियों के बन्धन से सर्वथा मुक्त थे तथापि संस्कृति की रक्षा और उन्नयन के लिए उन्होंने जो महान् कार्य किया उससे इस बन्धन का कुप्रभाव नगण्य-सा है। उनके गुणों का विश्वास समग्र हिन्दू समाज पर है और चिर दिन तक रहेगा। इस यथार्थ सत्य को कौन अस्वीकार कर सकता है?

यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकास की परम्परा क्रमबद्ध होती है। इसमें कार्य-कारण सम्बन्ध प्रायः देखा और पाया जाता है। एक काल-विशेष के कवियों को यदि हम मूल-स्वरूप मान लें तो उनके उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों को फल-स्वरूप मानना होगा। फिर ये फल-स्वरूप ग्रन्थकार समय पाकर अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के फल-स्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के मूल-स्वरूप होंगे। इस प्रकार यह क्रम सदैव चला चलेगा और समस्त साहित्य एक लड़ी के समान होगा। जिसकी भिन्न कड़ियाँ उस साहित्य के काव्यकार होंगे। इस सिद्धान्त को सामने रखकर यदि हम तुलसीदास जी के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो हमें पूर्ववर्ती काव्यधारा की कृतियों का क्रमागत विकसित रूप तो तुलसीदास जी में देख पड़ता है पर उनके पश्चात् यह विकास आगे बढ़ता हुआ नहीं जान पड़ता। ऐसा भास होने लगता है कि तुलसीदास जी में हिन्दी-साहित्य का पूर्ण विकास सम्पन्न हो गया और उनके अनन्तर फिर क्रमागत विकास की परम्परा बन्द हो गई तथा उसकी प्रगति ह्रास की

फिर पीछे पलटती है और क्रमशः बढ़ती हुई दूसरी हद पर जा पहुंचती है। धर्म और राजनीति दोनों में यह उलट-फेर, परिवर्तन के रूप में होता चला आ रहा है। जब जन-समाज नई उमंग में भरे हुए किसी शक्तिशाली व्यक्ति के हाथ में पड़कर किसी एक हद से दूसरी हद पर पहुंचा दिया जाता है तब काल पाकर उसे फिर किसी दूसरे के सहारे किसी दूसरी हद तक जाना पड़ता है। जिन मत-प्रवर्तक महात्माओं को आजकल की बोली में हम 'सुधारक' कहते हैं वे भी मनुष्य थे। किसी वस्तु का आत्यन्तिक परिमाण में देख जो विरक्ति का रूप होता है वह उस परिमाण के प्रति नहीं रह जाता किन्तु उस वस्तु तक पहुंचता है। चिढ़ने वाला उस वस्तु की अत्यधिक मात्रा से चिढ़ने के स्थान पर उस वस्तु से ही चिढ़ने लगता है और उससे भिन्न वस्तु की ओर अग्रसर होने और अग्रसर करने में परिमिति या मर्यादा का ध्यान नहीं रखता। इससे नये-नये मत-प्रवर्तकों या 'सुधारकों' से लोक में शान्ति स्थापित होने के स्थान पर अब तक अशान्ति ही फैली आई है। धर्म के सब पक्षों का ऐसा सामंजस्य जिससे समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति और विद्या-बुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सकें यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाए तो धर्म का रास्ता अधिक चलता हो जाए।

उपर्युक्त सामंजस्य का भाव लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी की आत्मा ने उस समय भारतीय जन-समाज के बीच अपनी ज्योति जगाई जिस समय नये-नये सम्प्रदायों की खींचतान के कारण सार्वधर्म का व्यापक स्वरूप आंखों से ओझल हो रहा था, एकांगदर्शिता बढ़ रही थी। जो एक कोना देख पाता था वह दूसरे कोने पर दृष्टि रखने वाले को बुरा भला कहता था। शैवों वैष्णवों शाक्तों और कर्मठों की तू तू मैं मैं तो थी ही बीच में मुसलमानों से अविरोध प्रदर्शन करने के लिए भी अपढ़ जनता को साथ लगाने वाले कई नये-नये पंथ निकल चुके थे। जिनमें एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का अशिक्षित रंग-ढंग ज्ञान विज्ञान की निंदा विद्वानों का

उपहास, वेदान्त के दो चार प्रसिद्ध वाक्यों का अनधिकार प्रयोग आदि सब कुछ था पर लोक को व्यवस्थित करने वाली वह मर्यादा न थी जो भारतीय आर्य-धर्म का प्रधान लक्षण है। जिस उपासना प्रधान धर्म का जोर कुछ के पीछे बढ़ने लगा वह उस मुसलमानी राजत्वकाल में आकर—जिसमें जनता की बुद्धि भी पुरुषार्थ के ह्रास के साथ-साथ शिथिल पड़ गई थी—कर्म और ज्ञान दोनों की उपेक्षा करने लगा था। ऐसे समय में इन नए पंथों का निकलना कुछ आश्चर्य की बात नहीं। उधर शास्त्रों का पठन पाठन कम लोगों में रह गया था, इधर ज्ञानी कहलाने की इच्छा रखने वाले मूर्ख बढ़ रहे थे जो किसी 'सतगुरु के प्रसाद' मात्र से ही अपने को सर्वज्ञ मानने के लिए तैयार बैठे थे। अतः 'सतगुरु' भी उन्हीं में से निकल पड़ते थे जो धर्म का कोई एक अंग लेकर एक ओर भाग खड़े होते थे और कुछ लोग झांझ-खंजड़ी लेकर उनके पीछे हो लेते थे। बस बढ़ रहा था। 'ब्रह्मज्ञान बिनु नारि-नर कहहिं न दूसरि बात।' ऐसे लोगों ने भक्ति को बदनाम कर रखा था। 'भक्ति' के नाम पर ही वे वेदशास्त्रों की निंदा करते थे, पंडितों को गालियां देते थे और आश्रम-धर्म के सामाजिक तत्त्व को न समझकर लोगों में वर्णाश्रम के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहे थे। यह उपेक्षा लोक के लिए कल्याणकर नहीं थी। जिस समाज से बड़ों का आदर, विद्वानों का सम्मान, अत्याचार का दमन करने वाले शूरवीरों के प्रति श्रद्धा इत्यादि भाव उठ जाएं, वह कदापि फल-फूल नहीं सकता उसमें अशांति सदा बनी रहेगी।

'भक्ति' का यह विकृत रूप जिस समय उत्तर भारत में अपना स्थान जमा रहा था उसी समय भक्तवर गोस्वामी जी का अवतार हुआ जिन्होंने वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुलाचार, वेदविहित कर्म, शास्त्र प्रतिपादित ज्ञान इत्यादि सबके साथ भक्ति का पुनः सामंजस्य स्थापित करके आर्य धर्म को छिन्न-भिन्न होने से बचाया। ऐसे सर्वांगदर्शी लोक-व्यवस्थापक महात्मा के लिए मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के चरित से बढ़कर अवलम्ब और क्या मिल सकता था। उसी आदर्श चरित के

अनुपयोगी वे हैं जो समाज में मिले तो दिखाई देते हैं पर उसके किसी अर्थ के नहीं होते जैसे आलसी और निकम्मे जिन्हें पेट भरना ही कठिन रहता है। लोक-विरोधी वे हैं जिन्हें लोक से द्वेष होता है और जो उसके विधान और व्यवस्था को देखकर जला करते हैं। शिष्टि में इस चतुर्थ वर्ग के भीतर पुराने पापियों और अपराधियों को लिया है। पर अपराध की अवस्था तक न पहुँचे हुए लोग भी उसके भीतर आते हैं जो अपने ईर्ष्या-द्वेष का उद्गार उतने उग्र रूप में नहीं निकालते मृदुल रूप में प्रकट करते हैं।

अशिष्ट सम्प्रदायों का औद्धत्य गोस्वामीजी नहीं देख सकते थे। इसी औद्धत्य के कारण विद्वान् और कर्मनिष्ठ भी भक्तों को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे थे जैसा कि गोस्वामीजी के इन वाक्यों से प्रकट होता है—

कर्मठ कठमलिया कहैं ज्ञानी ज्ञान विहीन ॥

धर्म व्यवस्था के बीच ऐसी विषमता उत्पन्न करने वाले नये पंथों के प्रति इसीसे उन्होंने अपनी चिढ़ कई जगह प्रकट की है, जैसे—

श्रुति सम्मत हरिभक्ति-पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पंथ अनेक ॥

* * *

साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि निंदहिं बेद पुरान ॥

उत्तरकांड में कलि के व्यवहारों का वर्णन करते हुए वे इस प्रसंग में कहते हैं—

बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाटि ॥

जो नीचे श्रेणियों के चिढ़न के लिए भी उग्र अपरिपक्व रूप में धर्मविरोधियों के आगे रखने से लोक-धर्म का तिरस्कार अनिवार्य था। 'शूद्र' शब्द से जाति की नीचता मात्र से अभिप्राय नहीं है किन्तु बुद्धि, शील, शिक्षा, सभ्यता सबकी हीनता से है। समाज में मूर्खता का प्रचार,

बल-पौरुष का ह्रास, अशिष्टता की वृद्धि, प्रतिष्ठित आदर्शों की उपेक्षा कोई विचारवान् नहीं सहन कर सकता। गोस्वामीजी सच्चे भक्त थे। भक्ति मार्ग की यह दुर्दशा वे कब देख सकते थे? लोकविहित आदर्शों की प्रतिष्ठा फिर से करने के लिए, भक्ति के सच्चे सामाजिक आधार फिर से खड़े करने के लिए, उन्होंने रामचरित का आश्रय लिया, जिसके बल से लोगों ने फिर धर्म के जीवन-व्यापी स्वरूप का साक्षात्कार किया और उसपर मुग्ध हुए। 'कलिकलुष-विभंजिनी' राम-कथा घर-घर धूमधाम से फैली। हिन्दू धर्म में नई शक्ति का संचार हुआ। 'श्रुति-सम्मत हरिभक्ति' की ओर जनता फिर से आकर्षित हुई। रामचरितमानस के प्रचार से उत्तर भारत में साम्प्रदायिकता का वह उच्छृंखल रूप अधिक न ठहरने पाया जिसने गुजरात आदि में धर्म के मर्म को वैदिक संस्कारों से एकदम विमुख कर दिया था, दक्षिण में शैवों और वैष्णवों का घोर द्वन्द्व खड़ा किया था। यहाँ भी किसी प्राचीन पुरी में शिवकांची और विष्णुकांची के समान दो अलग-अलग बस्तियाँ होने की नौबत नहीं आई। यहाँ शैवों वैष्णवों में मार-पीट कभी नहीं होती। यह सब किसके प्रसाद से? भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी के प्रसाद से। उनकी शांति प्रदायिनी मनोहर वाणी के प्रभाव से जो सामञ्जस्य-बुद्धि जनता में आई, वह अब तक बनी है और जब तक रामचरितमानस का पठन-पाठन रहेगा तब तक बनी रहेगी।

शैवों और वैष्णवों के विरोध के परिहार का प्रयत्न रामचरितमानस में स्थान-स्थान पर लक्षित होता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के परोपकार में शिव हरिभक्ति के ज्ञापक कहे गए हैं। उसके अनुसार उन्होंने शिव को राम का सबसे अधिकारी भक्त बनाया पर साथ ही राम को शिव का उपासक बनाकर गोस्वामीजी ने दोनों का महत्त्व प्रतिपादित किया। राम के मुखारविंद से उन्होंने स्पष्ट कहला दिया कि—

सिवद्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा॥

वे कहते हैं कि 'शंकर-प्रिय मम द्रोही शिवद्रोही मम दास' मुझे पसन्द नहीं।

इस प्रकार गोस्वामी जी ने उपासना या भक्ति का केवल कर्म और ज्ञान के साथ ही सामंजस्य स्थापित नहीं किया बल्कि भिन्न-भिन्न उपास्य देवों के कारण जो भेद दिखाई पड़ते थे उनका भी एक में पर्यवसान किया। इसी एक बात से यह अनुमान हो सकता है कि उनका प्रभाव हिन्दू समाज की रक्षा के लिए—उसके स्वरूप को रखने के लिए—कितने महत्त्व का था।

तुलसीदास जी यद्यपि राम के अनन्य भक्त थे पर लोकरीति के अनुसार अपने ग्रन्थों में गणेशवन्दना पहले करके तब वे आगे चले हैं। सूरदास जी ने 'हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ' से ही ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है। तुलसीदास जी की अनन्यता सूरदास से कम नहीं थी पर लोक-मर्यादा की रक्षा का भाव लिए हुए थी। सूरदास जी की भक्ति में लोक-संग्रह का भाव न था। पर हमारे गोस्वामी जी का भाव अत्यन्त व्यापक था—वह मानव-जीवन के सब व्यापारों तक पहुँचनेवाला था। राम की लीला के भीतर वे जगत् के सारे व्यवहार और जगत् के सारे व्यवहारों के भीतर राम की लीला देखते थे। पारमार्थिक दृष्टि से तो सारा जगत् राममय है पर व्यावहारिक दृष्टि से उसके राम और रावण दो पक्ष हैं। अपने स्वरूप के प्रकाश के लिए मानो राम ने रावण का असत् रूप खड़ा किया। 'मानस' के प्रारम्भ में सिद्धान्तकथन के समय तो वे 'सीयराम-मय सब जग जानी' सबको 'सप्रेम प्रणाम' करते हैं, पर आगे व्यवहार क्षेत्र में चलकर वे रावण के प्रति 'शठ' आदि बुरे शब्दों का प्रयोग करते हैं।

भक्ति के तत्त्व को हृदयंगम करने के लिए उसके विकास पर ध्यान देना आवश्यक है। अपने ज्ञान की परिमिति के अनुभव के साथ-साथ मनुष्य जाति आदिम काल से ही आत्मरक्षा के लिए परोक्ष शक्तियों की उपासना करती आई है। इन शक्तियों की भावना वह अपनी परिस्थिति

के अनुरूप ही करती रही। दुःखों से बचने का प्रयत्न जीवन का प्रथम प्रयत्न है। इन दुःखों का आना न आना बिलकुल अपने हाथ में नहीं है यह देखते ही मनुष्य ने उनको कुछ परोक्ष शक्तियों द्वारा प्रेरित समझा। अतः बलिदान आदि द्वारा उन्हें शांत और तुष्ट रखना उसे आवश्यक दिखाई पड़ा। इस आदिम उपासना का मूल था भय। जिन देवताओं की उपासना असभ्य दशा में प्रचलित हुई, वे 'अनिष्टदेव' थे। आगे चल कर जब परिस्थिति ने दुःख-निवारण मात्र से कुछ अधिक सुख की आकांक्षा का अवकाश दिया तब साथ ही देवों के सुख-समृद्धि-विधायक रूप की प्रतिष्ठा हुई। यह 'इष्टानिष्ट' भावना बहुत काल तक रही। वैदिक देवताओं को हम इसी रूप में पाते हैं। वे पूजा पाने से प्रसन्न होकर धनधान्य ऐश्वर्य विजय सब कुछ देते थे पूजा न पाने पर कोप करते थे और घोर अनिष्ट करते थे। व्रज के गोपों ने जब इन्द्र की पूजा बन्दकर दी थी तब इन्द्र ने ऐसा ही कोप किया था। उसी काल से 'इष्टानिष्ट' काल की समाप्ति माननी चाहिए।

समाज के पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित हो जाने के साथ ही मनुष्य के कुछ आचरण लोकरक्षा के अनुकूल और कुछ प्रतिकूल दिखाई पड़ गए थे। 'इष्टानिष्ट' काल के पूर्व ही लोकधर्म और शील की प्रतिष्ठा समाज में हो चुकी थी पर उसका सम्बन्ध प्रचलित देवताओं के साथ नहीं स्थापित हुआ था। देवगण धर्म और शील से प्रसन्न होनेवाले अधर्म और दुःशीलता पर कोप करनेवाले नहीं हुए थे वे अपनी पूजा से प्रसन्न होनेवाले और उस पूजा में त्रुटि से ही अप्रसन्न होनेवाले बने थे। ज्ञान मार्ग की ओर एक ब्रह्म का निरूपण बहुत पहले से हो चुका था पर वह ब्रह्म लोक-व्यवहार से तटस्थ था। लौकिक उपासना के योग्य वह नहीं था। धीरे-धीरे उसके व्यावहारिक रूप सगुण रूप की तीन रूपों में प्रतिष्ठा हुई—स्रष्टा पालक और संहारक। उधर स्थिति-रक्षा का विधान करनेवाले धर्म और शील के नाना रूपों की अभिव्यक्तिपर जनता पूर्ण रूप से मुग्ध हो चुकी थी। उसने चट दया दाक्षिण्य क्षमा उदारता

वत्सलता सुशीलता आदि उदात्त वृत्तियों का आरोप ब्रह्म के लोक-पालक सगुण स्वरूप में किया। लोक में 'इष्टदेव' की प्रतिष्ठा हो गई। नारायण वासुदेव के मंगलमय रूप का साक्षात्कार हुआ। जनसमाज आशा और आनन्द से नाच उठा। भागवत धर्म का उदय हुआ। भगवान् पृथ्वी का भार उतारने और धर्म की स्थापना करने के लिए बार-बार आते हुए साक्षात् दिखाई पड़े। जिन गुणों से लोक की रक्षा होती है, जिन गुणों को देख हमारा हृदय प्रफुल्ल हो जाता है उन गुणों को हम जिसमें देखें वही 'इष्टदेव' है—हमारे लिए वही सबसे बड़ा है—

तुलसी जप तप नेम व्रत सब सबही तें होइ।
लहै बड़ाई देवता 'इष्टदेव' जब होइ॥

इष्टदेव भगवान् के स्वरूप के अन्तर्गत केवल उनका दया-दाक्षिण्य ही नहीं असाध्य दुष्टों के संहार की उनकी अपरिमित शक्ति और लोक मर्यादापालन भी है।

भक्ति का यह मार्ग बहुत प्राचीन है। जिसे पहले हम से 'उपासना' कहते हैं उसीने व्यक्ति की रागात्मक सत्ता के भीतर प्रेम-परिपुष्ट होकर 'भक्ति' का रूप धारण किया है। व्यष्टिरूप में प्रत्येक मनुष्य के और समष्टिरूप में मनुष्यजाति के सारे प्रयत्नों का लक्ष्य स्थिति-रक्षा है। अतः ईश्वरत्व के तीन रूपों में स्थिति-विधायक रूप ही भक्ति का आलंबन हुआ। विष्णु या वासुदेव की उपासना ही मनुष्य के रतिभाव को अपने साथ लगाकर भक्ति की परम अवस्था को पहुँच सकी। या यों कहिए कि भक्ति की व्याप्ति का पूर्ण प्रकाश वैष्णवों में ही हुआ।

तुलसीदास के समय में दो प्रकार के भक्त पाए जाते थे। एक तो प्राचीन परंपरा के रामकृष्णोपासक जो वेदशास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों के अनुयायी थे जो अपने उपदेशों में दमन इतिहास पुराण आदि के प्रमाण लाते थे। दूसरे वे जो समाज-व्यवस्था की निंदा और पूज्य तथा सम्मानित व्यक्तियों के उपहास द्वारा लोगों को आकर्षित करते। समाज की व्यवस्था में कुछ विकार आ जाने से ऐसे

लोगों के लिए अच्छा मैदान हो जाता है। समाज के बीच शासकों, कुलीनों, धनवानों, विद्वानों, शूरवीरों, आचार्यों इत्यादि को अवश्य अधिकार और सम्मान कुछ अधिक प्राप्त रहता है, अतः ऐसे लोगों को भी कुछ लोग सदा रहते हैं जो उन्हें अकारण ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें नीचा दिखाकर अपने अहंकार को तुष्ट करने की ताक में रहते हैं। अतः उक्त शिष्ट वर्गों में कोई दोष न रहने पर भी उनमें दोषोद्भावना करके कोई चलते-पुरजे का आदमी ऐसे लोगों को अपने में लगाकर 'प्रवर्तक' 'अगुआ' 'महात्मा' आदि होने का डंका पीट सकता है। यदि दोष सचमुच हुआ तो फिर क्या कहना है। सुधार की सच्ची इच्छा रखने वाले सौ-चार होंगे तो ऐसे लोग पचास। किसी समुदाय के मध्य अवसर ईर्ष्या द्वेष और अहंकार को काम में लाकर 'अगुआ' और 'प्रवर्तक' बनने का हौसला रखने वाले समाज के शत्रु हैं। यूरोप में जो सामाजिक अशांति चली आ रही है, वह बहुत कुछ ऐसे ही लोगों के कारण। पूर्वीय देशों की अपेक्षा मत-निर्माण में अधिक कुशल होने के कारण वे अपने व्यवसाय में बहुत अच्छी सफलता प्राप्त कर लेते हैं। यूरोप में जितने लोक-विप्लव हुए हैं जितनी राजहत्या, नरहत्या हुई है सब में जनता के वास्तविक दुःख और क्लेश का भाग यदि $\frac{1}{2}$ था तो विशेष जन-समुदाय की नीच प्रवृत्तियों का भाग $\frac{1}{2}$। 'क्रांतिकारक' 'प्रवर्तक' आदि कहलाने का उन्माद यूरोप में बहुत अधिक है। इन्हीं उन्मादियों के हाथ में पड़कर वहाँ का समाज छिन्न-भिन्न हो रहा है। अभी थोड़े दिन हुए, एक मेम साहब पति-पत्नी के सम्बन्ध पर व्याख्यान देती फिरती थीं कि कोई आवश्यकता नहीं कि स्त्री पति के घर में ही रहे।

भक्त कहलाने वाले एक विशेष सम्प्रदाय के भीतर जिस समय यह उन्माद कुछ बढ़ रहा था उस समय भक्ति-मार्ग के भीतर ही एक ऐसी सात्त्विक ज्योति का उदय हुआ जिसके प्रभाव से लोक-धर्म के छिन्न-भिन्न होते हुए अंग भक्ति-सूत्र के द्वारा ही फिर जुड़े। चैतन्य महाप्रभु के भाव-प्रवाह के द्वारा बंगदेश में अष्टछाप के कवियों के संगीत-स्रोत के

द्वारा उत्तर भारत में प्रेम की जो धारा बही उसने पंथवालों की परुष वचनावली से सूखते हुए हृदयों को आर्द्र तो किया पर वह आर्य शास्त्रानुमोदित लोक-धर्म के माधुर्य की ओर आकर्षित न कर सकी। यह काम गोस्वामी तुलसीदास जी ने किया। हिंदू समाज में फैलाया हुआ विष उनके प्रभाव से बढ़ने न पाया। हिंदू जनता अपने गौरवपूर्ण इतिहास को भुलाने कई सहस्र वर्षों के संचित ज्ञानभंडार से वंचित रहने अपने प्रातःस्मरणीय आदर्श पुरुषों के आलोक से दूर पड़ने से बच गई। उसमें यह संस्कार न जमने पाया कि श्रद्धा और भक्ति के पात्र केवल सांसारिक कर्तव्यों से विमुख कर्ममार्ग से च्युत कोरे उपदेश देने वाले ही हैं। उसके सामने यह फिर से अच्छी तरह झलका दिया गया कि संसार के चलते व्यापारों में मग्न अन्याय के दमन के अर्थ रणक्षेत्रों में अद्भुत पराक्रम दिखाने वाले अत्याचार पर क्रोध से तिलमिलाने वाले प्रभूत शक्ति सम्पन्न होकर भी क्षमा करने वाले अपने रूप गुण और शील से लोक का अनुरंजन करने वाले मैत्री का निर्वाह करने वाले प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले बड़ों की आज्ञा का आदर करने वाले संपत्ति में नम्र रहने वाले विपत्ति में धैर्य रखने वाले प्रिय या अच्छे ही लगते हैं यह बात नहीं है। वे भक्ति और श्रद्धा के प्रकृत आलंबन हैं धर्म के दृढ़ प्रतीक हैं।

सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने श्रीकृष्ण के शृंगारिक रूप के प्रत्यक्षीकरण द्वारा 'टेढ़ी सीधी निर्गुण वाणी' की खिन्नता और शुष्कता को हटाकर जीवन की प्रफुल्लता का आभास तो दिया पर भगवान् के लोक-मंगलकारी रूप का प्रकाश करके धर्म के सौंदर्य का साक्षात्कार नहीं कराया। कृष्णोपासक भक्तों के सामने राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही रखी गई भगवान् की लोक-धर्म स्थापना का मनोहर चित्रण नहीं किया गया। अधर्म और अन्याय से संलग्न वैभव और समृद्धि का जो विध्वंस उन्होंने कौरवों के विनाश द्वारा कराया लोक-धर्म से च्युत होते हुए अर्जुन को जिस प्रकार उन्होंने संभाला शिशुपाल के प्रसंग में क्षमा और दंड की

जो मर्यादा उन्होंने दिखाई, किसी प्रकार ध्वस्त न होने वाले प्रबल अत्याचारी के निराकरण की जिस नीति के अवलंबन की व्यवस्था उन्होंने जरासंध-वध द्वारा की उसका सौंदर्य जनता के हृदय में अंकित नहीं किया गया। इससे असंस्कृत हृदयों में जाकर कृष्ण की शृंगारिक भावना ने विलास-प्रियता का रूप धारण किया और समाज केवल नाच कूदकर जी बहलाने के योग्य हुआ।

जहाँ लोक-धर्म और व्यक्ति-धर्म का विरोध हो वहाँ कर्ममार्गी गृहस्थों के लिए लोक-धर्म का ही अवलंबन श्रेष्ठ है। यदि किसी अत्याचारी का दमन सीधे न्यायसंगत उपायों से नहीं हो सकता तो कुटिल नीति का अवलंबन लोक-धर्म की दृष्टि से उचित है। किसी अत्याचारी द्वारा समाज को जो हानि पहुँच रही है, उसके सामने वह हानि कुछ नहीं है जो किसी एक व्यक्ति के बुरे दृष्टांत से होगी। लक्ष्य यदि व्यापक और श्रेष्ठ है तो साधन का अनिवार्य अनौचित्य उतना खल नहीं सकता। भारतीय जन-समाज में लोक-धर्म का यह आदर्श यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित रहने पाता तो विदेशियों के आक्रमण को व्यर्थ करने में देश अधिक समर्थ होता।

रामचरित के सौंदर्य द्वारा तुलसीदास जी ने जनता को लोक-धर्म की ओर जो फिर से आकर्षित किया वह निष्फल नहीं हुआ। वैरागियों का सुधार चाहे उससे उतना न हुआ हो पर परोक्ष रूप में साधारण गृहस्थ जनता की प्रवृत्ति का बहुत कुछ संस्कार हुआ। दक्षिण में रामदास स्वामी ने इसी लोक-धर्माश्रित भक्ति का संचार करके महाराष्ट्र-शक्ति का अभ्युदय किया। पीछे से सिक्खों ने भी लोक-धर्म का आश्रय लिया और सिक्ख-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। हिंदू जनता शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह को रामकृष्ण के रूप में और औरंगजेब को रावण और कंस के रूप में देखने लगी। जहाँ लोक ने किसीको रावण और कंस के रूप में देखा कि भगवान् के अवतार की संभावना हुई।

गोस्वामी जी ने यद्यपि भक्ति के साहचर्य से ज्ञान वैराग्य का भी

निरूपण किया है और पूर्ण रूप से किया है, पर उनका सबसे अधिक उपकार गृहस्थो के ऊपर है जो अपनी प्रत्येक स्थिति मे उन्हे पुकारकर कुछ कहते हुए पाते है और वह 'कुछ' भी लोक-व्यवहार के अन्तर्गत है उसके बाहर नही। मान-अपमान से परे रहने वाले सतो के लिए तो वे 'खल के बचन सत सह जैसे' कहते है पर साधारण गृहस्थो के लिए सहिष्णुता की मर्यादा बाधते हुए कहते है कि 'कतहुँ सुधाइहु तें बड़ दोषू'। साधक और संसारी दोनों के मार्गों की ओर वे सकेत करते है। व्यक्तिगत सफलता के लिए जिसे 'नीति' कहते है सामाजिक आदर्श की सफलता का साधक होकर वही 'धर्म' हो जाता है।

तात्पर्य यह कि गोस्वामी जी से पूर्व तीन प्रकार के साधु समाज के बीच रमते दिखाई देते थे। एक तो प्राचीन परपरा के भक्त जो प्रेम मे मग्न होकर संसार को भूल रहे थे, दूसरे वे जो अनधिकार ज्ञानगोष्ठी द्वारा समाज के प्रतिष्ठित आदर्शों के प्रति तिरस्कार-बुद्धि उत्पन्न कर रहे थे और तीसरे वे जो हठयोग रसायन आदि द्वारा अलौकिक सिद्धियो की व्यर्थ माया का प्रचार कर रहे थे। इन तीनो वर्गों के द्वारा साधारण जनता के लोक-धर्म पर आरूढ होने की सभावना कितनी दूर थी यह कहने की आवश्यकता नही। आज जो हम फिर झोपड़ो मे बैठे किसानो को भरत के 'आयसु आज' पर, लक्ष्मण के त्याग पर, राम की पितृभक्ति पर पुलकित होते हुए पाते है, वह गोस्वामी जी के ही प्रसाद से। धन्य है गार्हस्थ्य जीवन मे धर्मालोकस्वरूप रामचरित और धन्य है उस आलोक को घर घर पहुचाने वाले तुलसीदास। व्यावहारिक जीवन धर्म की ज्योति से एक बार फिर जगमगा उठा—उसमे नई शक्ति का सचार हुआ। जो कुछ भी नहीं जानता वह भी यह जानता है कि—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥

स्त्रियाँ और कोई धर्म जानें या न जानें पर वे यह धर्म जानती है

---

१ [illegible] लोक [illegible] लोग
निज [illegible] है सो [illegible] है।—कवितावली

जिससे संसार चलता है। उन्हें इस बात का विश्वास रहता है कि—

बूढ़ रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

जिसमें बाहुबल है उसे यह समझ भी पैदा हो गई है कि दुष्ट और अत्याचारी 'पृथ्वी के भार' हैं, उस भार को उतारने वाले भगवान् के सच्चे सेवक हैं। प्रत्येक देहाती लठैत 'बजरंगबली' की जयजयकार मनाता है—कुम्भकर्ण की नहीं। गोस्वामी जी ने 'रामचरित-चिन्तामणि' को छोटे-बड़े सबके बीच बाँट दिया जिसके प्रभाव से हिंदू समाज यदि चाहे—सच्चे जी से चाहे—तो सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

भक्ति और प्रेम के पुटपाक द्वारा धर्म को रागात्मिका वृत्ति के साथ सम्मिश्रित करके बाबाजी ने एक ऐसा रसायन तैयार किया जिसके सेवन से धर्म-मार्ग में कष्ट और ग्लानि न जान पड़े, आनन्द और उत्साह के साथ लोग आप से आप उसकी ओर प्रवृत्त हों, धर-पकड़ और जबरदस्ती से नहीं। जिस धर्म-मार्ग में कोरे उपदेशों से कष्ट ही कष्ट दिखाई पड़ता है वह चरित्र-सौंदर्य के साक्षात्कार से आनन्दमय हो जाता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति और निवृत्ति की दिशा को लिए हुए धर्म की जो लीक निकलती है लोगों के चलते-चलते चौड़ी होकर वह सीधा राजमार्ग हो सकती है, जिसके सम्बन्ध में गोस्वामीजी कहते हैं—

गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राजडगरो सो।

प्रो० बारान्निकोव

६

तुलसी के दार्शनिक विचार

[तुलसी के दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में बारान्निकोव का कथन है कि तुलसीदास ने बहुत से दार्शनिक मतों का उल्लेख किया है किन्तु वे उनमें से किसी एक का पूर्ण निश्चय और विश्वास के साथ अनुसरण नहीं करते। इसके पश्चात् यह लेखक उन दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना करता है जिनका मानस में उल्लेख हुआ है। इस सम्बन्ध में कोई भी दार्शनिक पक्ष छूटने नहीं पाया है।]

किसी एक दार्शनिक मतवाद के पूर्ण अनुसरण के अभाव का विशेष कारण है और वह है तुलसी की स्थिति। तुलसी किसी दार्शनिक तन्त्र के प्रवर्तक या आचार्य न होकर प्रधानतया भक्त हैं। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि भक्त की विचारणाओं और मान्यताओं का भी आधार दर्शन ही है फिर भी उसका सिद्धान्त पक्ष और आचार पक्ष दार्शनिक और भक्त के बीच अन्तर पैदा कर देता है। आलोचकों द्वारा तुलसी के भक्ति-भावना-सम्बन्धी आचार पक्ष और दार्शनिक मत-सम्बन्धी व्यवहार पक्ष तथा सिद्धान्त पक्ष में दोनों पूरी पूरी तरह बदलने के सम्बन्ध में द्वैत और अद्वैत या विशिष्टाद्वैत का विवाद उठता है। निर्गुण तथा सगुण पक्ष का झगड़ा भी इसी प्रकार ज्ञान और भक्ति के माध्यम और उसकी प्रधानता का प्रश्न है। ब्रह्म जीव और विश्व (माया) के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके स्वरूप के विषय में तुलसी दार्शनिक के रूप में जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह

भक्त तुलसी को मान्य होते हुए भी ज्ञानगम्य होते हुए भी सभी अनुभूति के न होने के समय तक कतिपय कठिनाइयां उपस्थित करता है। दार्शनिक के रूप में ज्ञान और तर्क के सहारे तुलसीदास अद्वैत की स्थिति में पहुँचते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म की ही सत्ता है—'ब्रह्म अद्वैत अनुभव रूपमा'। वह 'ज्ञान गिरा गोतीत अज माया गुन गो पार' है। 'जीव या आत्मा' ईश्वर अंश जीव अविनाशी चेतन अमल सहज सुखराशी है और माया तथा मायामय संसार मिथ्या और भ्रम है—

देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं ॥

ज्ञानोदय पर ही पता लगता है कि माया मिथ्या है—'सपुर्ण मिथ्या सोपि'। इसी तरह दृश्यमान संसार उसी प्रकार भ्रमात्मक है और उसका अस्तित्व मिथ्या है जैसे कि 'रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर बारि'। इस प्रकार जब सत्ता केवल ब्रह्म की ही है उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है और केवल यही सत्ता है तो संसार के (माया-कृत) जो सुख-दुःख स्वर्ग-नरक सत्-असत्, पाप-पुण्य आदि के भेद हैं वे भी अवास्तविक और निस्सार हैं। इसलिए पूर्ण ज्ञानोदय की स्थिति अद्वैत की स्थिति है जिसमें इन भेदों की ओर दृष्टि ही नहीं जाती और इनकी विषमता तथा द्वन्द्व भेद भाव स्वतः लुप्त हो जाता है। सच्ची स्थिति तो यही है कि इन द्वन्द्वों की ओर दृष्टि ही न जाए। इनमें भेद-भाव लक्षित करना ही 'अविवेक' है—

> सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
> गुन यह उभय न देखिअहिं देखिय सो अविवेक ॥

दार्शनिक के रूप में ज्ञान पक्ष की बात बताते हुए तुलसीदास अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं किन्तु भक्त तुलसीदास जानते हैं कि अद्वैत का यह लक्ष्य मान्य होते हुए भी यों ही नहीं प्राप्त हो जाता। अद्वैत की भाव भूमि तक पहुँचने के पहले साधना और व्यवहार के क्षेत्र में भेद भाव (भेद-भक्ति) किसी न किसी रूप में बना रहता है। भक्त जानता है कि ज्ञानमात्र पर्याप्त नहीं है। केवल जानने मात्र से ही

कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो जाती। जब तक सच्ची आत्मानुभूति न बने और जब तक साधना पूर्ण न हो तब तक भेद की भावना मिथ्या होते हुए भी अनिवार्य रूप से साथ लगी रहती है। भक्त और भगवान् तथा साधक और साध्य के बीच इसी कारण भेद की प्रतिष्ठा व्यावहारिक रूप में हो जाती है और दार्शनिक तथा भक्त की ब्रह्म जीव और माया सम्बन्धी भावना में तात्त्विक अन्तर होते हुए भी कुछ भेद हो जाता है। दार्शनिक के 'अकल अनीह अनाम अरूपा' निर्गुण ब्रह्म को भक्त के प्रेम वश उसके आकार के लिए सगुण ब्रह्म बनना पड़ता है—'अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई'। इसी प्रकार तात्त्विक दृष्टि से जीव या आत्मा ब्रह्म स्वरूप है किन्तु फिर भी भक्त इस बात का अनुभव करता है कि चेतन आत्मा जड़ माया के वश हो गई है। यह पराधीनता यद्यपि मिथ्या है किन्तु फिर भी व्यवहार में यह भ्रम बना ही रहता है।

जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

माया की सत्ता भी कुछ इसी प्रकार की है। माया का प्रपंच स्वप्नवत् है फिर भी यह असत्य होने हुए भी दुःख देता है 'यहि विधि जग हरि आश्रित रहई जदपि असत्य देत दुख अहई'। इस प्रकार भक्ति के साधनात्मक क्षेत्र में निर्गुण ब्रह्म को सगुण बनना पड़ता है आत्मा या जीव को मायाबद्धता स्वीकार करनी पड़ती है और माया का किसी न किसी रूप में अस्तित्व मानना पड़ता है। अस्तित्वहीन होते हुए भी ब्रह्म और जीव के बीच माया का व्यवधान आ जाता है—'ब्रह्म जीव बिच माया जैसी' और भेद का प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार अद्वैत की अभिव्यक्ति के साथ जो द्विविध रूप मानस में दिखाई पड़ता है वह आदर्श और व्यवहार में निहित भेद और दार्शनिक तथा भक्त की विभिन्न आवश्यकताओं के कारण है। किसी एक दार्शनिक सिद्धान्त का ही पूर्ण अनुसरण मानस में नहीं दिखाई पड़ता उसके मूल में भी दार्शनिक और भक्त की

विभिन्न आवश्यकताएं और प्रक्रियाएं हैं। मानस का आदर्श श्रीमद्भागवत है और जिसमें बहुत-सी सामग्री भी उसीसे ली गई है। भागवत में दार्शनिक पक्ष निश्चित नहीं है वैसे ही मानस में भी यह पक्ष स्पष्ट नहीं है। दोनों में भक्ति का विवेचन और सम्बन्ध स्पष्ट है।

दार्शनिक और भक्त का जो प्रमुख भेद है वह दोनों की भावना प्रकृति का भेद है जिसे काकभुशुण्डि और लोमश ऋषि के संवाद और ज्ञान-दीप तथा भक्ति-चिन्तामणि के रूपक द्वारा बताया गया है। ज्ञानी का सहारा तर्क है और भक्त का अनुभूति। भक्त ज्ञान को अमान्य नहीं ठहराता फिर भी उसको जानने मात्र से तृप्ति नहीं होती उसे तो हृदय में उसकी अनुभूति चाहिए। कवि ने विनयपत्रिका में इसे बड़ी स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है कि केवल वचन मात्र या ज्ञान मात्र माया से मुक्त करने में समर्थ नहीं है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार दीपक की बात करने से घर का अंधेरा नहीं दूर होता—

वाक्य-ज्ञान-अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह तम निवृत्त नहिं होई॥

इसी प्रकार भोजन का बखान करने से भूख नहीं मिटती। सच्ची तृप्ति का अनुभव तो उसीको होता है जो कि भोजन करता है चाहे वह उस विषय में कुछ भी न कहे कुछ भी न बोले—

षट रस बहु प्रकार भोजन कोउ दिन अरु रैनि बखानै।
बिनु बोले संतोष जनित सुख खाइ सोइ पै जानै॥

भक्त इसी प्रकार का है वह कहता नहीं फिर भी भोजन की तृप्ति सुख का अनुभव उसीको हो रहा है। लोमश ऋषि के निर्गुण के प्रति पादन को काकभुशुण्डि ने इसीलिए न अपनाया क्योंकि उससे उनके हृदय की भूख नहीं मिट रही थी हृदय की तृप्ति नहीं हो रही थी। वे जिससे पूछते वह यही कह देता था कि ईश्वर सर्व भूतमय अहै किन्तु इतने से उनको सन्तोष न हुआ—

जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईस्वर सर्ब भूत मय अहई ॥
निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई। सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई ॥

आचरण और अनुभूति पर अधिक आग्रह के कारण ही भक्त ज्ञान के सिद्धान्त-कथनमात्र को अधिक महत्त्व नहीं देता।

भक्त ज्ञान को इसलिए भी अधिक महत्त्व नहीं देता कि वह जानता है कि ज्ञान 'कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन बिबेक'। तुलसीदास जी ने ज्ञान की कठिनता और भक्ति की सुगमता का ऐसा सुन्दर वर्णन किया है कि उस सम्बन्ध में कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान की ओर भक्त इसलिए भी अधिक प्रयत्नशील नहीं होते कि उसमें अहं की भावना का कुछ न कुछ लेश हो ही जाता है। साधना के मार्ग में भक्त के सबसे बड़े शत्रु अहं और दम्भ के भाव हैं। इसीसे वह अपने कर्तव्य और अपनी शक्ति पर गर्व न कर भक्ति मार्ग के सच्ची सहायिका निरवलम्बता अनन्यता और भगवत्कृपा का ही सहारा लेता है। नारद और शाण्डिल्य के भक्तिसूत्रों में पहला सूत्र ही इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है कि मनुष्य की अपनी साधना और प्रयत्न से नहीं प्रत्युत भगवत्कृपा से ही सब कुछ होता है भगवत्कृपा से ही भ्रम का नाश होता है—

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौं सपनें सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई ॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ॥

आत्मोदय भी भगवत्कृपा से ही होता है। राम की कृपा के बिना उसकी प्रभुता को नहीं जाना जा सकता है—

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई ॥

और सच्चा ज्ञान उसी भक्त को प्राप्त होता है जिसपर प्रभु की कृपा होती है। प्रभु को जानकर वह प्रभु हो जाता है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥
तुम्हरी कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन ॥

भक्ति पर कवि ने इसलिए भी विशेष आग्रह दिखाया है कि कवि के मतानुसार ज्ञान मुक्ति के अधीन है और भक्ति स्वतंत्र है। ज्ञान का चरम लक्ष्य मुक्ति भी भक्त को भक्ति की साधना के बीच स्वतः प्राप्त हो जाती है यद्यपि वह न इस ओर प्रयत्नशील होता है और न इसे चाहता ही है—

राम भगति सोइ मुक्ति गुसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं।
अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने।

भगवत्कृपा की अमोघ शक्ति का वर्णन इसी प्रकार विनयपत्रिका में भी कवि ने बहुत किया है। मानस के प्रबन्ध काव्य होने के कारण उसमें अपेक्षाकृत कम अवकाश था। विनयपत्रिका में भक्त की दीनता और भावावेश के बीच भगवत्कृपा का वर्णन बहुत हुआ है। और रामनाम का महत्त्व बताया गया है। जिस प्रकार कवि मानस में राम भजन के सम्बन्ध में यह कहता है कि—

हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं।
भजिय राम सब काम तजि अस बिचारि मन माहिं।।

उसी प्रकार विनयपत्रिका में भी राम-नाम का प्रभाव प्रकट करता है।

तुलसी भक्त के रूप में रामचरित की व्याख्या करते हैं। संक्षेप में उनका सिद्धान्त है—राम भजन। भेद भक्ति (जिसमें उपासक और उपास्य की पृथक सत्ता रहती है) उसका साधन है (मानस में नवधा भक्ति का निर्देश किया गया है।) और साध्य मन का विश्राम है और यह सब भगवत्कृपा से प्राप्य है अन्य प्रकार से नहीं।

इस प्रकार तुलसी दर्शनशास्त्र में निष्णात होते हुए भी दार्शनिक नहीं हैं। उन्होंने रामचरितमानस का प्रणयन किसी दार्शनिक मतवाद की प्रतिष्ठा के लिए न कर रामभक्ति के प्रचार के लिए किया था। उनका लक्ष्य ध्यान या ज्ञान न था वरन् भक्ति थी।

तुलसीदास ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति पर जो विशेष आग्रह दिखाया

है उसमे उनकी व्यक्तिगत रुचि ही कारण नहीं है भक्ति उस युग की पुकार थी और समाज की परम आवश्यकता थी। जिस प्रकार भक्ति का आधार दर्शन पर टिका है उसी प्रकार उसका सामाजिक पक्ष भी है।

भक्ति का सामाजिक पक्ष उसके दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों मे स्पष्ट हो जाता है। भक्ति के क्षेत्र मे समानता के अधिकार की घोषणा सभी भक्त और आचार्यों ने की है। भक्ति का अधिकार सभी को है। ईश्वर के समक्ष धनी निर्धन सब बराबर है, न कोई ऊँचा है और न कोई नीच। राम को केवल भक्ति का सम्बन्ध ही मान्य है—'मानउँ एक भगति कर नाता'। भक्तिहीन कुलीन व्यक्ति जलशून्य मेघ के समान है। यह उक्ति तो भक्ति-क्षेत्र मे अत्यन्त प्रचलित है—'जाति पाँति पूछै नहिं कोई हरि को भजै सो हरि का होई'। भक्ति के सिद्धान्त ने इस प्रकार समाज मे प्रचलित भेद-भाव को कम करने का प्रयत्न किया।

समानता के सिद्धान्त की घोषणा के साथ विद्वेष की निंदा भी स्पष्ट शब्दों मे की गई है। जिस प्रकार व्यक्ति को विद्वेष से विरत किया गया उसी प्रकार समाज मे प्रतिष्ठित अनेक धर्मों मे देवताओं मे विद्वेष को बुरा बताया गया। किसी भी देवी-देवता की निंदा को वैष्णव भक्ति ने असम्य कहा। स्वयं तुलसीदास ने शिव और राम दोनों के प्रति पूज्य भाव को प्रदर्शित किया। शिव की सेवा से ही राम के चरणों मे अविरल भक्ति होती है।

इस प्रकार भक्ति के इन दोनों सिद्धान्तों द्वारा भी बहुत बड़ा कार्य हुआ। समानता के सिद्धान्त ने सामाजिक भेद-भाव को कम किया और धर्मों के प्रति समदृष्टि के प्रचार ने धार्मिक उदारता और सामाजिक सामञ्जस्य के भाव को दृढ किया। मध्ययुगीन वैष्णवता के सर्वोचित रूपों को स्वीकार करते हुए भी तुलसी ने विशेष रूप से समाज की रक्षा का ध्यान रखा। उस युग मे प्रचलित अनेक पंथों की निंदा उन्होंने इसी लिए की कि वे समाज की समीकरण की शक्ति को क्षीण कर समाज

को शिथिल बना रहे थे । तुलसी को समाज का ध्यान बराबर रहा ।

भक्ति का आन्दोलन मध्ययुगीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं से प्रसूत है । ज्ञान की अपेक्षा भक्ति पर विशेष आग्रह दिखाकर भक्ति के महान् आचार्य एक प्रकार से सामाजिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा करना चाहते थे जिनकी जड़ें कतिपय दार्शनिक सिद्धान्तों—विशेषतया अद्वैतवाद—की निरंकुशता या अतिचार के कारण हिल गई थीं । अद्वैत की भूमि पर पहुँचकर तो संसार या समाज के सभी भेद-उपभेद मिथ्या और निस्सार हो जाते हैं उस स्थिति में तो शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, परोपकार और पीड़न सभी निस्सार और व्यर्थ हो जाते हैं । अद्वैत की दृष्टि से तो त्रासक और त्रस्त दोनों एक हैं । न कोई किसीको त्रास देता है और न कोई त्रस्त होता है । इस प्रकार की अद्वैत की भावना व्यक्ति की साधना का लक्ष्य तो हो सकता है किन्तु समाज का सामान्य आदर्श नहीं हो सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में तो समाज का संचालन ही रुक जाएगा । समाज संचालन के लिए तो कर्तव्याकर्तव्य विधि-निषेध करणीय तथा अकरणीय की कोटियाँ अनिवार्य हैं । समाज संचालन में पापी का दण्ड और पुण्यात्मा का अभिनन्दन आवश्यक है चाहे पारमार्थिक दृष्टि में दोनों ही सम क्यों न हों । तुलसी की भक्ति ने सहज, सरल और शुद्ध आचरण पर जोर देकर अप्रकट रूप में सामाजिक जीवन के स्तर को ऊपर उठाया और (ज्ञान के अतिचार से सम्भूत) सामाजिक अव्यवस्था और अनुशासनहीनता को रोकने का प्रयत्न किया । यही भक्ति के आन्दोलन का सामाजिक पक्ष है ।

हिन्दू समाज का आधार वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था और प्रतिष्ठा है । मध्ययुगीन हिन्दू समाज में किस प्रकार अव्यवस्था और अनुशासनहीनता फैल गई थी, लोग किस प्रकार अपने निश्चित कर्मों से विमुख हो रहे थे इसका तुलसीदास ने मानस में कलियुग के वर्णन के बीच स्पष्ट उल्लेख किया है । वहीं पर उन्होंने बताया है कि शूद्र किस प्रकार अपने को ब्रह्मवेत्ता कहकर ब्राह्मण की भर्त्सना कर रहे हैं । कवि की दृष्टि में

यह सामाजिक अनुशासनहीनता है—

मारहिं मूढ़ द्विज सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाटि ॥

इसी प्रकार कवि का कहना है कि जो लम्पट और सयाने हैं वह अपने को अभेदवादी कहते हैं—

पर-तिय-लम्पट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने ॥
तेइ अभेदबादी ग्यानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर ॥

इन शब्दों में कवि ने अद्वैतवाद के सामाजिक कुपरिणामों की ओर इंगित किया है और बताया है कि इसकी मिथ्या भावना किस प्रकार समाज में अव्यवस्था उत्पन्न कर उसे शिथिल बनाती है। समाज की रक्षा के लिए ही कवि ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति पर अधिक जोर दिया।

भक्ति का जो व्यक्तिपरक पक्ष है वह भी चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण कर समाज की नींव को पुष्ट ही करता है। नवधा भक्ति का वर्णन करते हुए भक्ति के साधन का उल्लेख भी तुलसीदास ने श्रीराम चन्द्र के मुख से कराया है। उसमें 'निज निज करम निरति श्रुति रीति' में उसका सामाजिक पक्ष स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

भक्तों का आधार संसार की क्षणिकता की सतत् अनुभूति निरन्तरता, अनन्यता और उच्च जीवन-यापन है। संसार की निस्सारता उन्हें यह भी बताती है कि संसार के प्रदर्शन समाज की पाशविक शक्ति और वैभव सब धुआँ का धौरहर है—

जग नभ वाटिका रही है फलफूलि रे
धुआँ कैसो धौरहर देखि तू न भूलि रे।

अत संसार और संसारवासियों से किसी प्रकार की आशा-तृष्णा ही होगी। यही नहीं जो देवता कहे जाते हैं वे भी सन्तुष्ट नहीं हैं वे भी किसी दूसरे का मुँह देखते हैं। फिर उन्हें दीनदयाल क्या कहा जाए, वे स्वयं दीन दिखाई पड़ते हैं—'दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ, जाहि दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ।' ऐसी मनोवृत्ति चरित्र में

निर्भीकता और दृढ़ता आती है। ऐसे व्यक्तित्व के व्यक्ति को कोई भी भय या लालच खरीद नहीं सकता और सांसारिक वैभव के प्रदर्शन उनकी आस्था में चकाचौंध नहीं उत्पन्न कर पाते।

निरभिमानता उनमें सच्चे दैन्य और विनती का संचार करती है और भक्ति के पथ से बड़े शत्रु—दम्भ और अहंभाव—से उनकी रक्षा करती है। दंभ और अहं के जोर से भक्त उस जीवन की ओर प्रवृत्त होते हैं जिसे तुलसीदास अपनी 'रहनि' समझते हैं। इसी प्रकार अनन्यता भक्त में उस दृढ़ विश्वास की सृष्टि करती है जिसके सहारे भक्त कठिन से कठिन परीक्षा में भी सफल होता है। अनन्यता मन को प्रभु की ओर केन्द्रित कर देती है जिससे मन की चंचलता दूर होती जाती है और वह किसी दूसरे से कोई आशा नहीं रखता है। मानस में तुलसीदास ने राम के मुख से कहलाया है कि जो मेरा दास कहलाकर भी किसी मनुष्य से आशा रखे तो उसके विश्वास के लिए क्या कहा जाए—

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥

चातक अनन्य प्रेमी का प्रतीक है और चरम अनन्य भक्त है। भक्ति के उपकरण इस प्रकार ऐसे व्यक्तित्व का सृजन करते हैं जिसमें विनति के साथ दृढ़ता और निर्भीकता रहती है जो न भय से त्रस्त होता है और न लालच से खरीदा जा सकता है, जिसमें 'बचन न बिगड़ मास न मासा' जो कड़ी परीक्षा में भी अपना उच्च लक्ष्य नहीं छोड़ता। भक्त का जीवन आदर्शनिष्ठ जीवन हो जाता है।

किन्तु तुलसीदास इसके आगे और भी कुछ कहते हैं जो भक्ति के उच्च व्यक्तिपरक आचरण को सामाजिक बना देता है। उन्होंने कई स्थलों पर कहा है कि सबसे बड़ा धर्म अहिंसा और परोपकार है सबसे बड़ा पाप पर-पीड़न है। पर-पीड़न से विरत होने से समाज की रक्षा और परोपकार में समाज के कल्याण की भावना छिपी है—

परम धरम मुनि बिदित अहिंसा। पर निंदा सम अघ न गिरीसा॥
परहित सरिस धर्म नहीं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

जिस प्रकार अहिंसा और परोपकार मे समाज की भावना छिपी हुई है उसी प्रकार सन्तो के जो लक्षण बताए गए है उनके उच्च जीवन की जो विशेषताए बताई गई है उनमे भी समाज के कल्याण की भावना छिपी हुई है। 'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर' 'कोमल चित दीनन्ह पर दाया' 'सीतलता समता मयत्री आदि मे सामाजिक पक्ष भी निहित है। भक्त का जीवन इस प्रकार उच्च नैतिक जीवन का निदर्शन बन जाता है जिससे समाज का कल्याण होता है और जिसका समाज अनुकरण करता है।

भक्ति का वर्णन करते हुए मनुष्य के कर्तव्यो की चर्चा भी की गई है। मनुष्य शरीर भगवत्कृपा का फल है। यह अत्यन्त दुर्लभ है। इसे इन्द्रिय-लोलुपता म फसा कर उच्च आचरण की ओर लगाना चाहिए। जो मनुष्य शरीर धारण कर दूसरो को पीडा पहुचाते है व संसार मे पतित होते है—

नर सरीर धरि जे परपीरा। करहि ते सहहि महा भव भीरा॥

मनुष्य शरीर की महिमा मानस और विनयपत्रिका दोनो म कही गई है यह साधना का स्थल है—'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।' ईश्वर कभी-कभी कृपा करके नर शरीर देता है—'कबहुक करि करुना नरदेही देत ईस बिनु हेतु सनेही।' इसे भोग-विलास मे न लगाना चाहिए—'एहि तन कर फल बिषय न भाई।' यह नर शरीर ससार-सागर को पार करने का साधन है। भगवत्कृपा इसे चलाने के लिए अनुकूल वायु है—'नरतन भववारिधि कहुँ बेरो सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो।' अत मनुष्य शरीर को उच्च साधना के लिए प्रयुक्त करना चाहिए। इन उच्च कर्मों म परोपकार सर्वोच्च है। विनयपत्रिका म कवि ने मनुष्य शरीर की सार्थकता परोपकार के सबध से ही निश्चित की है।

स्वय कवि ने अपने लिए जिस आदर्श जीवनयापन की कामना प्रकट की है उसमे भी समाज के कल्याण की पूरी संभावना है व्यक्ति की उदात्तता के साथ दूसरे (या समाज) के उपकार की बात कही गई

है—'परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ।

इस प्रकार भक्ति के प्रचार ने देश को नवीन व्यक्तित्व प्रदान किया जो विनम्र किन्तु दृढ़ था, जो निर्भीक था, जो अपने विश्वास में मग्न था, जिसपर संसार की शान-शौकत का कोई असर न था और जो अपनी गरीबी में ही मस्त था क्योंकि वह ऐसे प्रभु का सेवक था 'जेहि अति दीन पियारे'। भक्ति के इसी कवच को धारण कर हिंदू जाति अपने प्राचीन धर्म तथा संस्कृति की रक्षा मध्ययुग की उन कठिन घड़ियों में कर सकी जब विधर्मी शक्ति ने देश की स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया था। वह न शासक के भय से त्रस्त हुई और न लोभ में फँसी। भक्ति के सहारे ही देश की जनता विधर्मी शक्ति और शासन के बीच अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रख सकी। देश परतंत्र हुआ किन्तु देश की आत्मा स्वतन्त्र रही।

तुलसी का यह महत्त्वपूर्ण कार्य मेरी दृष्टि से ओझल न रहा। मानस-रचना के समकाल में तुलसी के देशवासी विजेताओं द्वारा धूल-धूसरित थे और उन्होंने (तुलसी ने) अपने काव्य के द्वारा अपने देश की रक्षा के लिए अपूर्व मार्ग प्रदर्शन की चेष्टा की। कहना न होगा कि रक्षा का यह अपूर्व मार्ग भक्ति का ही मार्ग था। इसी भक्तिपथ का अनुसरण कर जनता अपनी संस्कृति की रक्षा कर सकी। यह भक्ति दो-चार इने-गिने व्यक्तियों के लिए न थी। उपासना के क्षेत्र में इसने समानता के सिद्धान्त की घोषणा की और इसने समग्र देश को आप्लावित कर दिया। सारे देश ने इसे अपना लिया। तुलसी की वाणी ने ही इस भक्ति को प्रत्येक हृदय में प्रतिष्ठित कर दिया। सारे देश ने इसे हृदयंगम कर लिया। इस प्रकार तुलसी ने अपने काव्य में प्रतिपादित भक्ति के द्वारा जनता का पुनरुत्थान किया। इस कवि की पीयूषवाणी को सुनकर ही जनता जीवित रह सकी। तुलसी की वाणी को सुनकर यहाँ की जनता को जनार्दन के आश्रय का चरम विश्वास हो गया।

तुलसीदास ने धार्मिक विचार को लेकर मानस में विभिन्न देवी देवताओं की स्थिति और शिव तथा विष्णु की उपासना के सामञ्जस्य का प्रधानतया उल्लेख किया है तथा राम की अद्वैतस्थिति और उपासना आदि की चर्चा की है।

भारतीय देवमण्डल का तीन कोटियों म विभाजन किया गया है। मानस मे वैदिक देवमंडल के उन देवताओ के समावेश के विषय मे जो कि अब बिल्कुल गौण हो गए है कहा जाता है कि इनकी प्रतिष्ठा भारतीय धार्मिक मतवादों की सबसे बड़ी विशेषता अहिंसा— 'हिंसा न करने' के सिद्धान्त की स्वीकृति है और इसका दूसरा प्रधान कारण तुलसी के अपने 'कट्टर मतवाद' की रक्षा का प्रयत्न है। कवि चाहता है कि ये प्राचीन देवता उच्च सम्मान के अधिकारी बने रहे और यह सम्मान उन्हे ऊंच-नीच सभी से अनिवार्य रूप म मिले। ऐसा न होने से अन्य देवताओ की प्रतिष्ठा को आघात पहुच सकता है। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। इन देवताओं के समावेश का प्रधान कारण मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति का आन्दोलन है जिसने देवताओ के प्रति विद्वेष को निन्दनीय बताया और देवताओ के प्रति पूज्य बुद्धि रखने की बात कही।

मेरा यह भी मत है कि मानस म बहुदेववाद से एक देव वाद की प्रवृत्ति है जो सर्ववाद से समन्वित है। तुलसी के काव्य मे चित्रित देवमडल के उदाहरण मे विभिन्न भारतीय मतवादो द्वारा निर्मित मार्ग बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर (सम्पूर्ण) है, प्रायः सर्ववाद मे प्रयुक्त अपूर्ण। वस्तुत ऐसा तुलसी के काव्य मे ही नही है प्रत्युत यह भारतीय उपासना की प्रचलित पद्धति है। भारतीय उपासना किसी एक देवी या देवता को ग्रहण कर उसकी व्यापक मे भावना करती है और उसकी सर्वव्यापी सत्ता स्वीकार करती है। इस प्रकार बहुत मे देवी-देवताओ मे से चुना हुआ देवता सबसे बड़ा देवता बन जाता है (एकेश्वरवाद की इस प्रकार प्रतिष्ठा हू जाती है)

और उसकी व्यापकता सर्ववाद को जन्म देती है। सारी सृष्टि उसीकी अभिव्यक्ति करने लगती है।

इन देवताओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय चित्रित की गई है। ये सभी देवता शक्तिशाली होते हुए भी राम की माया के वश में हैं। राम 'बिधि हरि संभु नचावनि हारे' हैं और उनकी माया से सभी डरते हैं 'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं'। यह देवता स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'भव प्रवाह संतत हम परे'। इनमें इन्द्र सब से अधिक कुटिल और स्वार्थी है। इन देवताओं में केवल सरस्वती और गणेश अब भी हमारी श्रद्धा के पात्र हैं। अन्य देवताओं का कोई व्यक्तित्व नहीं है। वे भगवान् की विनती करते हैं और उनपर फूल बरसाते हैं।

वैदिक देवताओं के साथ 'त्रिदेव' का भी मानस में समावेश है। इनमें ब्रह्मा की स्थिति सब से गौण है और शिव और विष्णु प्रमुख हैं। शिव और विष्णु में अविरोध दिखाया गया है। ये दोनों एक दूसरे के प्रेमी हैं। तुलसीदास ने इनका पारस्परिक प्रेम दिखाकर दो प्रधान धार्मिक मतवादों में सामंजस्य स्थापित करने की महत्त्वपूर्ण चेष्टा की है। शिव की सेवा से ही रामभक्ति प्राप्त होती है—'सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥' स्वयं श्री रामचन्द्र जी कहते हैं कि शिवद्रोही मुझे अच्छा नहीं लगता 'सिवद्रोही मम दास कहावा सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा।'

इस धार्मिक सामञ्जस्य के संबंध में यही कहा जा सकता है कवि इसमें राजनीतिक भावना से परिचालित हुआ। वैष्णव और शैव में अनिवार्य रूप से सामंजस्य की राजनीतिक भावना से परिचालित होकर, तुलसीदास प्रायः शिव को सर्वोच्च देवता के रूप में चित्रित करते हैं। वास्तव में इस सामंजस्य के मूल में कोई राजनीतिक भावना न होकर वैष्णवता की उदार प्रवृत्ति है जो विष्णु को सर्वोच्च देवता मानते हुए भी अन्य देवताओं में कोई भेद भाव नहीं रखती।

मानस में सर्वोच्च स्थान राम का है। हरि के रूप में उल्लेख होने

पर भी वे हरि से बड़े हैं परात्पर ब्रह्म हैं 'बिधि हरि संभु नचावनि हारे'
हैं। वे अद्वैत ब्रह्म के सगुण रूप हैं। नर शरीरधारी राम और निर्गुण
ब्रह्म में कोई भेद नहीं है दोनों एक ही हैं। वे राम दुष्टों के विनाश और
भक्तों की रक्षा के लिए अवतरित होते हैं। भक्तों के प्रेमवश यह अवतार
लेते हैं—'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तन भूप'। राम की माया
से उत्पन्न होकर सभी राम में समाविष्ट हो जाते हैं। रावण का निधन
होने पर उसके शरीर से तेज निकलकर राम में समा गया। इस प्रकार
सब कुछ उस अद्वैत सत्ता से प्रसूत होकर उसी में मिल जाता है।

यह मिलन या 'लय' ही मुक्ति है। मुक्ति के सामीप्य सायुज्य सारूप्य
सालोक्य आदि कई रूप हैं। भगवान् का भक्त भेद भक्ति को अपनाने
के कारण मुक्ति की कामना नहीं करता। भगवान् की लीला में ही उसे
आनंद मिलता है वह मोक्ष नहीं लेता—'सगुन उपासक मोच्छ
न लेहीं।'

राम और कृष्ण के बालरूप की उपासना का वैष्णव काव्य में जो
इतना प्रचुर वर्णन मिलता है वह सर्वथा विलक्षण और मौलिक है।
ऐसा और कहीं नहीं मिलता। यहाँ तक कि जैसा प्रेम हिंदू
राम और कृष्ण के बालरूप के प्रति प्रकट करते हैं न तो किसी भी
भोली-भाली जाति में और न उन्नततम विकसित धार्मिक मतवाद में
प्राप्य है।

जन्मान्तरवाद हिंदुओं के धार्मिक विश्वास की विशेषता है। कर्म का
सिद्धान्त इसकी आधारशिला या प्रेरक है और आवागमन के चक्कर से
छुटकारा या मुक्ति पाना हिंदू धर्म का चरम उद्देश्य है। सृष्टि के क्रम
में समस्त जीव अनेक योनियों में अपने कर्मों से प्रेरित होकर भ्रमित होते
रहते हैं। इनमें केवल मनुष्य ही ऐसा है जो अपने को संसार-चक्र से
मुक्त करने की सम्भावना रखता है वह विरलरूप से ज्ञान के माध्यम
और सुगम रीति से भक्ति के द्वारा माया से मुक्त हो सकता है। मनुष्य
का चरम पुरुषार्थ भगवत्प्रेम की प्राप्ति है ईश्वर से इसीलिए करुणा से

द्रवित होकर उसे मनुष्य का शरीर दिया है। इस नर शरीर की सार्थकता विषय-भोग म न होकर परोपकार और भक्तिभाव के अनुसरण में है। इस प्रकार तुलसी ने राम-भक्ति को मानव के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित किया।

तुलसी के धार्मिक विचारों के अन्तर्गत मानस म प्राप्त हिन्दू धर्म की मुख्य बातों का संक्षेप उल्लेख इस रूप में किया जा सकता है।

अन्यत्र तुलसीदास के सामाजिक एवं नैतिक कथन के संबंध में मैंने बहुत ही संक्षेप में कवि के सामाजिक विचारों का संकेत दिया है। मैंने बताया है कि तुलसीदास कट्टर सामाजिक व्यवस्था के पोषक हैं और हिंदू समाज की वर्णव्यवस्था के समर्थक हैं। इसके साथ ही मैंने यह भी कहा है कि कवि ने तत्कालीन वैष्णवता की उदारात्मक प्रवृत्तियों का भी समावेश किया है और बताया है कि राम केवल प्रेम के ही सम्बन्ध को मानते हैं। उनके सामने न कोई ऊंचा है और न कोई नीचा।

इस सम्बन्ध में मेरा निष्कर्ष यह है कि 'इस प्रकार तुलसीदास के सामाजिक दृष्टिकोण में स्पष्ट विरोध या विषमता है।

यों तो तुलसी के वर्ण-व्यवस्था के समर्थन में सामाजिक भेद भाव की कट्टरता और समानता के सिद्धान्त के प्रचार के बीच आत्मविरोध का आभास होता है किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि तुलसी ने दोनों के क्षेत्र अलग कर दिए हैं और वे दो विभिन्न सिद्धान्तों का दो विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग करते हैं। वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा समाज के दिन प्रतिदिन के लौकिक सम्बन्धों में बीच मान्य है। वहां पर वे समाज के विभिन्न स्तरों और अनेक रूपात्मक सम्बन्धों का निराकरण नहीं करते। इसके विपरीत समानता का सिद्धान्त उन्हें केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही मान्य है। यह समानता की दृष्टि केवल उन लोगों के प्रति है जो संसार से ऊपर उठ चुके हैं साधु या भक्त हो गए हैं। ऐसे लोग जो कि संसार को मिथ्या समझकर उससे विमुख होकर ईश्वरोन्मुख हो गए हैं उनमें

सामाजिक सम्बन्ध तथा उनके मूल का अध्ययन होना चाहिए, क्योंकि तुलसी को हमारे समर्थन या खंडन की कोई अपेक्षा नहीं है।

तुलसी ने ब्राह्मण शूद्र नारी आदि की स्थिति समाज के संघटन नेता तथा राजा (तथा गुरु) के कर्त्तव्य पिता तथा पति के अधिकार, उत्तराधिकार की व्यवस्था और सामाजिक शिष्टाचार तथा मर्यादा के सबंध में जो कुछ कहा है उनमें उनका विश्वास होते हुए भी ये सब कथन उनके अपने नहीं हैं। इनमें से अधिकांश कवि को परम्परा-रूप में प्राप्त हुए हैं और कवि के सामाजिक एवं नैतिक कथनों पर मध्ययुगीन भावना की स्पष्ट छाप है। यहां पर यह भी कह देना चाहिए कि इनमें से अधिकांश आज भी समाज में पूर्ववत् हैं।

हिन्दू समाज में ब्राह्मणों की उच्च स्थिति तथा शूद्रों की निम्न स्थिति की भावना कई शताब्दियों से चली आ रही थी। मध्ययुग में तो यह भावना और भी दृढ़ थी। जिस प्रकार मध्ययुग 'ईश मश मम नृपति कृपालाः' कहकर राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानता था उसी प्रकार ब्राह्मण पृथ्वी पर साक्षात् देवता के रूप में मान्य था। वह भूसुर, भूदेव की उपाधि से विभूषित था। राम के राज्याभिषेक की घोषणा के पहले दशरथ वसिष्ठ का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक समझते हैं। ब्राह्मण की अधिकारपूर्ण स्थिति का इसीसे पता लग जाता है। ब्राह्मण की अवमानना रामचन्द्र को अच्छी नहीं लगती—'मोहि न सुहाई ब्रह्म कुल द्रोही।' जो ब्राह्मण की निष्कपट सेवा करता है उसके वश में शिव ब्रह्मा तथा राम सभी हैं—

मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देव॥

शूद्र और नारी दोनों की स्थिति निम्नतम है। 'ढोल गवार शूद्र पशु नारी' इसे स्वयं स्पष्ट कर देता है। काकभुशुण्डि अपनी पूर्वजन्म की कथा के सम्बन्ध में निम्न जाति के विषय में कहते हैं—

अधम जाति मैं विद्या पाये। भयउँ जथा अहि दूध पियाये॥

'शूद्र मारे लतियाये' यह कहावत अभी तक चली आ रही है। मध्ययुग के 'रजील' की भावना इसी प्रकार की थी और मुसलमान शासक निम्न जनता का मुख नहीं देखना चाहते थे।

इसी प्रकार नारी की निम्नस्थिति भी उसी युग की भावना है। उस युग में नारी के कोई अधिकार नहीं थे। पति के सम्बन्ध में ही उसकी प्रतिष्ठा निर्धारित होती थी। यह मान्य सिद्धान्त था कि कन्या-रूप में पिता के शासन में, विवाह होने पर पति के अधिकार में और विधवा होने पर वह पुत्र के अधीन रहती है। वह कभी स्वतन्त्र नहीं। स्वतन्त्र होने पर तो वह बिगड़ जाती है—'जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी।' वह तो 'सहज अपावनि नारि' शबरी के शब्दों में 'अधम ते अधम अधम अति नारी।' नारी-सम्बन्धी उपर्युक्त सभी भावनाएँ मध्ययुग की उपज हैं।

इसी प्रकार समाज-संघटन और संचालन के सम्बन्ध में तुलसी की अंगांगि भाव की जो कल्पना है वह भी काफी प्राचीन है। जिस प्रकार चारों वर्ण उस 'पुरुष' के विभिन्न अंग हैं उसी प्रकार विभिन्न वर्ग 'समाज-शरीर' के अंग हैं। सर्वोच्च वर्ग मुख की तरह है नेता है और सेवक शरीर के हाथ-पैर और नेत्र के समान हैं। मुखिया को चाहिए कि वह वसुधा का ग्रहण करके अन्य अवयवों को विवेक के साथ पुष्ट करे—

मुखिया मुख सो चाहिए खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित विवेक॥
सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिब होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ॥

मुख तथा अन्य अवयवों की लड़ाई की कथा का उल्लेख रोम के इतिहास में 'प्लीबियन' और 'पैट्रीशियन' के अधिकारों के द्वन्द्व के बीच भी मिलता है। जिस प्रकार समाज के चार वर्ण की कल्पना 'पुरुष सूक्त' में जुड़ी है उसी प्रकार यह कथा भी काफी पुरानी है। तुलसी का उपर्युक्त कथन समाज के विभिन्न अवयवों के बीच पारस्परिक सामंजस्य

आवश्यकता को प्रतिपादित कर समाज के सम्यक संचालन का मार्ग प्रदर्शन कर रहा है और साथ ही समाज की उस स्थिति पर विद्यमान लोगों को देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व से अवगत करा रहा है।

नेता के समान राजा के भी कतिपय कर्तव्य हैं। राजा यद्यपि पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है 'ईस अंस भव नृपति इमामा' फिर भी वह नियमों से मुक्त नहीं है। वह अपनी प्रजा का पिता है। 'प्रजा' का अर्थ ही सन्तान है। राजा की पिता-रूप में कल्पना 'कुलज्येष्ठ' (Patriarch) की भावना से संयुक्त है जो कि काफी प्राचीन है। प्रजा का पालन राजा का सबसे बड़ा कर्तव्य है। कलियुग-वर्णन में तुलसी कहते हैं कि नृप पाप परायन धर्म नहीं करि दंड बिडंब प्रजा नित हीं। तुलसी का यह कथन राजनीतिक उथल-पुथल के युग में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी सो नृप अवसि नरक अधिकारी।' तुलसी का यह वचन स्वतन्त्रता के संग्राम के बीच जनता को बहुत बल देता रहा है—

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपुर ऐन॥

इसी प्रकार कवि का यह निर्णय भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि वह राजा शोचनीय है जिसे अपनी प्रजा प्राणोपम प्रिय नहीं है—

सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥

परिवार में पिता और पति के अधिकार सर्वाधिक हैं। सन्तान के लिए पिता और स्त्री के लिए पति ही सब कुछ है। पिता की आज्ञा अनुल्लंघनीय है और वही 'धरम-करम' है—'पितु आयसु सब धरमक टीका' तथा स्त्री के लिए पति की आज्ञा का अनुसरण ही सब कुछ है—'नारि धरम पति देव न दूजा।' पितृ भक्ति तो भारतीय संस्कृति में अत्यन्त प्राचीन है 'पितृ देवो भव' और पति भक्ति मध्ययुग की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के बीच और भी दृढ़ हुई।

उत्तराधिकार की व्यवस्था भी पिता की इच्छा पर निर्भर करती है।

सामान्यतया उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को ही प्राप्त होता है। राजा दशरथ कैकेयी से कहते हैं कि उन्होंने बड़े-छोटे का ध्यान करके ही बड़े पुत्र राम के युवराज्याभिषेक की योजना की थी अन्यथा राम को राज्य का कोई लोभ नहीं है—

लोभ न रामहि राज कर बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति॥

किन्तु यह तो 'नृपनीति' है। यदि पिता चाहे तो उत्तराधिकार का क्रम बदल सकता है। और बड़े को पदच्युत कर छोटे को अधिकार दे सकता है। पिता की सम्मति ही उसे वैध बना देती है। राजा दशरथ के निधन पर वशिष्ठ भरत से राज्य करने की बात कहते हुए व्यवस्था देते हैं कि जिसे पिता दे उसीका अधिकार वैध है और वह वेदविहित भी है—वेद विहित सम्मत सब ही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका। इसी प्रकार भरद्वाज ऋषि भी भरत से कहते हैं कि यदि वे राज्य करते तो भी उनको दोष न लगता—'करतेहु राजु त तुम्हहि न दोषू' क्योंकि लोकमत और वेदमत यही है कि जिसे पिता राज दे उसीको मिले—

लोक बेद सम्मत सब कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई॥

इस प्रकार उत्तराधिकार की जो व्यवस्था तुलसी ने निर्मित की है वह उनके युग तथा समाज की मान्य व्यवस्था है और बहुत कुछ इसी रूप में आज भी प्रचलित है।

सामाजिक शिष्टाचार और सामाजिक मर्यादा का जो स्वरूप तुलसी के युग में मान्य था उसका तिरस्कार उनको सह्य नहीं है—'आपन जानत पुरुष महत्ता' भी ब्राह्मण पूज्य है।

पिता की आज्ञा का पालन अनुचित उचित विचार तजि होना चाहिए; गुरु की अवमानना वर्जनीय है नहीं तो 'भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा' पति का अपमान किसी स्थिति में भी मार्जनीय नहीं है—

वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

इस प्रकार तुलसीदास अपने वचनों द्वारा स्पष्टतया परम्परा प्राप्त सामाजिक व्यवस्था के कट्टर समर्थक के रूप में सामने आते हैं। उन्होंने कट्टरता का पक्ष लिया है और उनको तत्कालीन प्रचलित सामाजिक व्यवस्था मान्यताओं एवं मर्यादाओं का उल्लंघन कदापि सह्य नहीं है। यद्यपि तुलसीदास यह अवश्य चाहते हैं कि प्रत्येक वर्ण अपने धर्म का पालन करे, और जब वह इसके विपरीत देखते हैं तो वह सभी वर्णों की कटु आलोचना करते हैं, फिर भी समाज के बीच वर्णों की उच्च एवं नीच पद की जो व्यवस्था है वे उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते। समाज में ब्राह्मण हर हालत में उच्च पद का अधिकारी रहेगा और शूद्र का स्थान निम्न है। तुलसी के विचारों की वस्तुस्थिति यही है इसे चाहे उनकी कट्टरता कही जाए या सामाजिक अनुशासनप्रियता। तुलसी के ये विचार मानस में इतनी जगह और इतनी विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्त हुए हैं कि इन सब को बाद में ब्राह्मणों द्वारा अपने को ऊंचा उठाने व प्रक्षेप-रूप जोड़ा हुआ या 'प्रक्षिप्त' कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। समाज का ढांचा कई शताब्दियों से ज्यों का त्यों है। इसलिए कट्टरता की उक्तियों की भी अपनी परम्परा बन गई है।

मनुष्य के व्यक्तित्व के समान 'मानस' का व्यक्तित्व भी अनेक रूपात्मक है और यही विविधता उसकी लोकप्रियता का मूल कारण है। इस संबंध में किसी एक कारण को न्यूनतम रूप में उसी प्रकार नहीं प्रस्तुत किया जा सकता जिस प्रकार कि रज्जु के एक सूत्र को अलग कर उसे सर्वप्रधान नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार सूत्रों का समन्वित रूप उसकी शक्ति के सम्मिलित प्रभाव के रूप में प्रकट होता है उसी प्रकार मानस की लोकप्रियता उसके अनेक उपकरणों के समन्वित प्रभाव के रूप में प्रकट हुई है। इसलिए केवल जनता के धार्मिक विश्वास या राम के स्वरूप में कथा की सरलता अथवा गम्भीर दार्शनिक विचारों की विवेचना या नैतिकता या कलात्मक उत्कृष्टता में से किसी एक को इस काव्य की लोकप्रियता का एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता यद्यपि ये सभी

में काफी महत्त्वपूर्ण है। इसलिए लोकप्रियता के मूल में उपकरणों के सम्मिलित प्रभाव को ही मानना समीचीन होगा। मुख्य यह कथ्य है कि सुन्दर कलात्मक रूप में अभिव्यक्त इसके नैतिक उद्गार भारत की कम शिक्षित और पूर्णतया अशिक्षित जनता के कंठ में जीवित हैं। गम्भीर दार्शनिक विचारों की सरल व्याख्या और उनकी उच्च (कोटि की) कलात्मकता ने मार्मिक भावाभिव्यक्ति के मेल से इन विचारों के व्यापक प्रसार में सहायता दी।

इस प्रकार नैतिक पक्ष और काव्य (तथा कला) पक्ष का सुन्दर समन्वय और मणिकांचन-संयोग मानस के लोकव्यापी प्रसार का मुख्य कारण बन गया और उसने तुलसीदास को जनहृदय के सिंहासन पर प्रथम रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। ऐसा सुन्दर संयोग यत्र-तत्र ही होता है। तुलसी के व्यक्तित्व में कवि और भक्त प्रतिस्पर्धा के रूप में न आकर सहयोगी और पूरक रूप में आए। इसीसे मानस में काव्य का दूसरा लक्ष्य बराबर प्रस्तुत किया गया है। आदर्श की उच्चता और अभिव्यंजना की उत्कृष्टता दोनों पर समान रूप से आग्रह दिखाया गया है। काव्य का प्रथम लक्ष्य 'सर्व हित' होना चाहिए—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सबकर हित होई॥

तुलसीदास इतना कहकर सन्तुष्ट नहीं हो जाते 'सब कर हित' से भक्त तो सन्तुष्ट हो जाता है किन्तु कवि को केवल इतने से ही तृप्ति नहीं होती क्योंकि नैतिक कथन मात्र उसका इष्ट नहीं है। भावपक्ष की उच्चता के साथ कलापक्ष का उत्कर्ष भी काव्य में उतना ही आवश्यक है। इसलिए नैतिक इष्ट के साथ कला की कसौटी भी प्रस्तुत की गई है। काव्य सरस हृदय-संवाद्य है, इसलिए रसिक उसका पारखी भी कहा गया है। उसका निर्णय ही काव्य की कसौटी है। जिस रचना का आदर 'बुधजन' नहीं करते उसमें कवियों का परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। इसलिए तुलसीदास मानस-रचना के समय यह वरदान मांगते हैं कि साधु समाज में उनकी 'भनिति' का सम्मान हो—

होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू॥
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं॥

कवि ने इस प्रकार नैतिकता और कलात्मकता की समन्वित दोहरी काव्य-कसौटी प्रस्तुत की जो तत्कालीन साहित्य-जगत की अत्यन्त विलक्षण एवं क्रान्तिकारी घटना है।

काव्य के इस आदर्श को प्रतिष्ठित कर कवि अपना यह विचार व्यक्त करता है (जो कि काव्य के आचार्यों के निष्कर्ष के अनुकूल ही है) कि काव्य-प्रतिभा प्रयत्न-साध्य न होकर ईश्वर-प्रदत्त है। भक्ति के समान यह भी ईश-कृपा के अधीन है। जिसपर ईश्वर की कृपा होती है उसके हृदय में काव्य की अधिष्ठात्री वाणी उसी प्रकार नृत्य करती है जिस प्रकार कि सूत्रधार के इशारे पर कठपुतली नाचती है—

सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥

इस प्रकार काव्य-प्रतिभा ईश्वर का वरदान है।

तुलसी ने काव्य की प्रक्रिया का भी संकेत किया है जो यही प्रतिपादित करता है कि काव्य दैवी वरदान होने के साथ-साथ दैवी विभूति है। काव्य का जन्म हृदय बुद्धि और दैवी प्रतिभा के संयोग से होता है। हृदय की अनुभूति या संवेदना—समन्वित बुद्धि को जब शारदा की कृपा से श्रेष्ठ विचार मिलते हैं तभी काव्य के मोती उपजते हैं अन्यथा नहीं—

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥

मानस रूपक के बीच कवि ने इसका स्पष्ट संकेत किया है कि काव्य की मानसिक क्रिया किस प्रकार घटित होती है, काव्य का मानस किस प्रकार सम्पन्न होता है। यह मानस चर्म चक्षुओं से दृष्टिगत नहीं होता इसके लिए ज्ञान की अन्तर् दृष्टि चाहिए। इसमें अवगाहन करने पर जब कवि की बुद्धि विमल हो जाती है, हृदय आनंद के उत्साह से भर जाता है, तब प्रेम प्रवाह के रूप में काव्य की सरिता इस मानस या मन से

उमड़कर चल पड़ती है—

> अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
> भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥
> चली सुभग कबिता सरिता सो।

इस काव्य-सरिता का मूल रामयश के जल से परिपूर्ण मानस है। यह जल बुद्धिमार्ग से होता हुआ मानस (या अन्तर) में पहुँचकर सुस्थिर हो जाता है और फिर इसीसे काव्य सरिता निकलती है—

> सुमति भूमिथल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधिघन साधू॥
> बरषहिं राम सुजस बरबारी।
> मेधा महिगत सो जल पावन। सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन॥
> भरेउ सुमानस सुथल थिराना।

इस रूपक में तलस्पर्शी बुद्धि और हृदय की 'अगाधता' या गहराई पर कवि की दृष्टि बराबर है। इस प्रकार कवि ने हृदय पक्ष और बुद्धि पक्ष दोनों का समान रूप से काव्य की प्रक्रिया में योग माना है। भावुकता और विवेकता दोनों का समन्वय उच्च काव्य की प्रतिष्ठा के मूल में है। 'सुमतिभूमि' तथा 'मेधामहिगत' में बुद्धि के आधारभूत स्वरूप का संकेत देकर उसका ठोस महत्त्व स्वीकार किया गया है यद्यपि कवि यह स्पष्ट कर देता है कि यह बुद्धि हृदय से विमुख नहीं है। बुद्धि हृदय-सागर में सीप के समान है। 'हृदयसिंधु' और 'हृदय अगाधू' भाव पक्ष या हृदय पक्ष की व्यापकता और गहराई को व्यंजित कर रहे हैं।

इस प्रकार कवि के 'मानस' ने काव्य को जन्म दिया। यह शंभु की कृपा से ही संभव हुआ। शिव की कृपा से जब सद्बुद्धि का आनन्दपूर्ण प्रकाश हुआ तभी तुलसी रामचरितमानस का कवि हुआ—

> संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरित मानस कबि तुलसी॥

इस प्रकार काव्य की दैवी विभूति ईश्वर का वरदान है।

ऐसी उच्च विभूति का निम्न उद्देश्य की ओर नियोजन दुरुपयोग है। उससे उच्च लक्ष्य की ही साधना की जानी चाहिए।

की दृष्टि में सर्वोच्च लक्ष्य राम की भक्ति है। राम उच्चता शुद्धता और पवित्रता के प्रतीक हैं उनका नाम ही हमारे हृदय की उदात्त वृत्तियों को जगाने में समर्थ है। इसीसे नैतिक भावना से प्रेरित होकर (और राम नाम के रसोद्रेक की क्षमता को पहचानकर) तुलसीदास इस सीमा तक चले जाते हैं और कहते हैं कि सुकवि का चमत्कारी काव्य यदि राम-नाम से विहीन है तो वह शोभाहीन ही है और राम-नाम से संयुक्त सामान्य काव्य भी सम्मान्य है—

मनिति बिचित्र सुकबिकृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ ॥
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। रामनाम जस अंकित जानी ॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही ॥

तुलसी के इस कथन में केवल नैतिकता का ही आग्रह नहीं है प्रत्युत काव्य की वस्तु-विषय की उच्चता या उदात्तता पर भी जोर दिया गया है। तुलसी की दृष्टि में कवि के लक्ष्य और काव्य के वस्तु-विषय दोनों ही को उदात्त होना चाहिए। तुलसी की दृष्टि में मानव का सर्वोच्च लक्ष्य भक्ति है। कवि के मतानुसार जब लक्ष्य उच्च होता है अर्थात् जब वह भक्ति के 'भावन व्यापार' में प्रवृत्त होता है तो काव्य की अधिष्ठात्री शारदा ब्रह्मलोक से उसकी सहायता के लिए दौड़कर आती है। सरस्वती के श्रम का परिहार तभी होता है जब कवि उसे रामचरित के सरोवर में स्नान कराता है अर्थात् जब काव्य-प्रतिभा उच्च सात्त्विकी साधना में प्रवृत्त होती है तभी काव्य की सच्ची सार्थकता है। उसके विपरीत जब कवि अपने इस उच्च उत्तरदायित्व को भूलकर अर्थ या यश-प्राप्ति के हेतु सामान्य नर-नारियों के प्रशंसात्मक वर्णन में अपनी काव्य प्रतिभा को लगाते हैं तो वह उसका अपव्यय है और सरस्वती सिर धुनकर पछताने लगती है—

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई ॥
रामचरित सर बिनु अन्हवाये। सो स्रम जाइ न कोटि उपाये ॥

कबिकोबिद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरि जस कलिमल हारी॥
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥

तुलसी के उपर्युक्त उद्‌गार बड़े ही क्रान्तिकारी हैं। इन पंक्तियों में भक्तिपरकता पर तो आग्रह है ही किन्तु उसके साथ कवि की स्वतन्त्रता का भी उद्‌घोष है। इन शब्दों में उन कवियों की आलोचना भी है जो चंद टुकड़ों पर अपने को बेचने को तैयार हैं। कवि ने बड़े साहस के साथ उन कवियों की आलोचना की है जो उस युग में 'प्राकृत जन गुन गाथ' में प्रवृत्त थे। तुलसी का युग 'दरबारी' तथा 'राज्याश्रित' कवियों का था उस युग के बीच तुलसी का यह कथन और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। अपने युग के साहित्य-जगत् की आलोचना कर तुलसी सब युगों के लिए कवियों को आत्मस्वातन्त्र्य (या चाटुकारिता से बचने) की चेतावनी दे गए।

तुलसी का 'स्वान्तःसुखाय' का उद्‌घोष भी कवियों के आत्म स्वातन्त्र्य की ही बात कह रहा है। इसमें स्वतन्त्रता के साथ हृदय की सत्यानुभूति या सचाई का सिद्धान्त भी प्रतिपादित है। 'स्वान्तःसुखाय' से यही तात्पर्य है कि कवि अपने अन्तस् या मन के सुख के लिए गाता है या उसे गाना चाहिए; जिसमें उसे सुख मिलता है या जिसमें उसका मन रमता है उसीको अपने उद्‌गारों का विषय बनाना चाहिए, इस प्रकार यह कवि की अनुभूति की ईमानदारी या सचाई की बात ठहरती है। यह तो स्पष्ट ही है कि जिस वस्तु-विषय या भाव में कवि का मन लीन नहीं होता उससे उसे सुख नहीं मिलता या उसकी तृप्ति नहीं होती वह उच्च काव्य का आधार नहीं बन सकता। इस प्रकार उच्च काव्य की सृष्टि के हेतु ही स्वान्तःसुखाय का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है अर्थात् उत्कृष्ट काव्य के लिए आवश्यक है कि कवि वस्तु-चयन के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रहे और वह काव्य-वस्तु कवि के मन के अनुरूप हो। दूसरे शब्दों में काव्य-रचना कवि के अपने अन्तस् (स्वान्त) से संबद्ध है उसे कैसान या फरमाइश के रूप में प्रस्तुत करना ठीक नहीं। कवि के पास केवल

एक ही सचित है और वह सचित यथार्थ की है। यही उसका बल है और यही उसकी सामग्री है और वह इसीसे बंधा है। भावाभिव्यक्ति के व्यापार में कवि को केवल शब्द और अर्थ का ही सहारा है। वह इनसे बाहर नहीं जा सकता और न किसी अन्य माध्यम का अवलम्ब प्राप्त कर सकता है। कवि की मति को यथार्थ के घेरे में बंधकर उसका उसी प्रकार अनुसरण करना पड़ता है जिस प्रकार नट को ताल के अनुरूप ही नाचना पड़ता है और वह ताल से बाहर नहीं जा सकता तुलसी के मतानुसार कवि को केवल सत्याव का ही सच्चा बल है—'मरप मापर बन जाता है।

तुलसी के सम्बन्ध में स्वान्तःसुखाय को पूर्णतया ऐकान्तिक कहकर समाज के इष्ट या श्रेयस् से सर्वथा पृथक नहीं किया जा सकता क्योंकि तुलसी ने ऐसा नहीं किया है। तुलसी का 'स्व' संकुचित नहीं है। उनके सुख में सबका सच्चा सुख निहित है। कवि इस प्रकार के जीवन या 'रहनि' की कई स्थलों पर कामना कर चुका है कि वह दूसरों के सुख से सुखी और दूसरों के दुःख में दुःखी हो अर्थात् उसके हृदय का जन-हृदय से साधारणीकरण हो जाए। अपने को बन्धना में न बांधता हुआ भी कवि काव्य की प्रक्रिया तथा काव्य की आवश्यकताओं से अवगत है। 'स्वान्तः सुखाय' या अपने अन्तस् के सुख की बात कहता हुआ भी वह 'अपने में ही मगन रहने वाला जीव नहीं है क्योंकि वह कवि है और कवि होने के नाते वह जानता है कि काव्य की सार्थकता तभी है जबकि उसकी अपनी बात सबके हृदय की बात बन जाए, उसका काव्य जन जन में उसी भाव का प्रेषक और उद्बोधक या उद्भावक बन जाए जो कि कवि के अन्तस् में है। कवि इस प्रकार काव्य का जो सामाजिक पक्ष है या उसकी जो सामाजिकता है उससे भलीभांति परिचित है। काव्य व्यक्ति की निजी कृति होते हुए भी अपने में सम्पूर्ण नहीं है उसे श्रोता पाठक या दर्शक की अपेक्षा है। उसे श्रोता पाठक या दर्शक के हृदय तक पहुंचाना या हृदयंगम कराना भी आवश्यक है। ऐसा होने पर ही

(कवि तथा) काव्य की पूर्ण सार्थकता है। सर्जन के क्षणों में काव्य कवि की चीज है, सृष्टि हो जाने पर वह समाज की सम्पत्ति हो जाती है और कभी-कभी कवि के न चाहने पर भी कवि से अधिक समाज (श्रोता पाठक या दर्शक) का उसपर अधिकार हो जाता है और समाज काव्य के सम्बन्ध में कतिपय मांगें पेश करने लगता है। इनमें सर्वप्रथम और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मांग यह है कि कवि के हृदय में जो भाव जगे हैं उनको कवि पारस्परिक विनिमय के सर्वोच्च सामाजिक साधन भाषा द्वारा सामाजिकों के हृदय तक पहुंचा सके। 'प्रेषणीयता' का सिद्धान्त इस प्रकार काव्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त बन जाता है। प्रेषणीयता का यह सिद्धान्त ही काव्य का सामाजिक पक्ष है। तुलसी ने प्रेषणीयता के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को 'मनिमानिक मुकुता छबि' के द्वारा प्रतिपादित किया है। जिस प्रकार मणि माणिक्य और मोती यद्यपि सर्प के सिर, खान और हाथी के मस्तक में जन्म लेते हैं फिर भी उनकी शोभा वहां नहीं है। उनकी शोभा तभी द्विगुणित होती है जब वे राजा के मुकुट या तरुणी के शरीर का आश्रय या आधार पाते हैं। इसी प्रकार काव्य का जन्म यद्यपि कवि के हृदय में होता है (और वह जन्म भी काफी महत्त्वपूर्ण है) फिर भी उसकी सार्थकता तभी है जब उसे उपयुक्त आश्रय प्राप्त हो (यह सभी जानते हैं कि काव्य का आश्रय स्वयं कवि न होकर पाठक या सामाजिक या 'रसिक' है)। इसी से 'कवित्त' का जन्म तो एक जगह (कवि-हृदय में) होता है किन्तु शोभा दूसरी जगह (पाठक के हृदय में) प्राप्त होती है—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तन पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकबि-कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥

इस प्रकार तुलसी ने काव्य के सभी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों एवं उसके शास्त्रीय पक्ष का मानस में पूर्ण प्रतिपादन किया। बालकाण्ड में मानस के रूपक में उन्होंने काव्य के धर्मों का भी उल्लेख किया है। इसीके

जब तुलसी काव्य की ममीरता और अपनी निर्बलता का विज्ञापन करते हैं तो वह प्रकारान्तर से उनकी नम्रता का विज्ञापन बन जाता है और वह उल्लेख यह भी बताता है कि काव्य के सभी पक्षों से तुलसी का परिचय है।

संक्षेप मे कवि ने काव्य के अन्तरंग और बहिरंग उसकी आत्मा और उसके शरीर उसके व्यक्तिपरक रूप और उसके सामाजिक पक्ष दोनों का सम्यक ध्यान रखा और दोनो म सामंजस्य प्रतिष्ठित किया। सूत्ररूप मे उन्होंने काव्य के सम्बन्ध मे 'सब कर हित' और 'कुसल आदर भावहिं सुजान' की उच्च भाव तथा उत्कृष्ट कला की दोहरी कसौटी प्रस्तुत की। इसीसे तुलसी की ज्ञान-गरिमा प्रकट होती है और इसीम उनकी सफलता का रहस्य भी है।

उनकी सफलता और लोकप्रियता का रहस्य एक अन्य तत्त्व म भी छिपा है। इसे हम कवि की व्यापक दृष्टि सहानुभूति या उसकी मानवीयता कह सकते हैं। चित्रण मे कवि चाहे 'यथार्थवादी' न हो फिर भी वह यथार्थप्रेमी अवश्य है। इसी प्रकार उसकी सूक्ष्म अन्तर दृष्टि यद्यपि मानव हृदय के गहरे विषम एव अन्धकारपूर्ण कक्ष का कोना-कोना भाव कर उसका दृश्य हमारे सामने रख देती है फिर भी वह मनुष्य की हंसी नहीं उडाती उसे सहानुभूति के साथ ऊपर उठाती है। संसार को माया या भ्रम समझता हुआ भी वह इस भ्रम का यथातथ्य चित्रण करता है और तब मनुष्य को इससे मुक्त होने का उपदेश देता है। इसीसे कवि ने संसार के कष्ट और कष्टों म पडे हुए मनुष्य का सहानुभूति के साथ चित्रण किया है और पारमार्थिक रूप मे भ्रम होने पर भी उसकी पीडा को हल्की बनाकर उससे विमुख नहीं हुआ। तुलसी ने वस्तुस्थिति की जो विषमता है संसार मे जो कष्ट, पीडा और दुःख है उसका पूरा चित्र प्रस्तुत किया है। 'कवि की रचनाओं मे प्रकारान्तर मे उनकी ऐहिक और आध्यात्मिक जीवन ही चित्रित हुआ है। तुलसी ने जीवन म जिन कष्टो को झेला उन्हींको उनके कवि ने कलात्मक अभिव्यक्ति दी।

इसीसे तुलसी के इन चित्रों में सत्य की झलक और स्वाभाविकता का रंग है यथार्थता का आग्रह और आदर्श या आध्यात्मिकता की भावना का संयोजन है। इसका एक प्रमाण दरिद्रता (के कष्टों) सम्बन्धी कवि का कथन है। कवि स्पष्ट कहता है कि इस संसार में दरिद्रता से बढ़कर कोई दुख नहीं है— 'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं'। चौदह प्राणियों का जीवन मृतक तुल्य है और दरिद्रों की गणना इन्हीं में है।

कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥
तनु पोषक निंदक अघखानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी॥
तथा

आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की।

इसी सम्बन्ध में कवि प्रकारान्तर से यह भी कहता है कि अपने सुख के बिना मन कभी स्थिर नहीं होता—'निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा' और सबसे बड़े आनन्द की अभिव्यक्ति इस रूप में हुई कि मानो जन्म के दरिद्री को 'पारस' पत्थर मिल गया—'जनम रंक जनु पारस पावा।'

दरिद्रता के सम्बन्ध में कवि की ऐसी प्रभावपूर्ण उक्तियाँ उसके जीवनानुभव से सम्बद्ध हैं। चूंकि कवि दाने-दाने के लिए बिलबिलाता घूमा था सबके आगे दाँत काढ़ चुका था मान-मर्यादा की भावना को छोड़कर सभी के आगे पेट खोल चुका था और किसीने उसके मुँह में घूँट भी न डाली किसीने 'अपनापन' भी न दिया इसीसे तुलसीदास दरिद्रता को संसार का सबसे बड़ा कष्ट कहते हैं। इस कथन का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि तुलसी जब महात्मा बन गए अर्थात् अपनी साधना द्वारा जब वे संसार के असली रूप को समझ गए तब भी उन्होंने अपने इन कटु अनुभवों पर पर्दा नहीं डाला क्योंकि वे जानते थे कि केवल वे ही जगे हैं और मनुष्यों की अधिक संख्या संसार के दुःस्वप्न में पड़ी कष्ट भोग रही है। जब तक ये मनुष्य न जागें तब तक मिथ्या होते हुए भी ये कष्ट उनके लिए सच हैं। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार स्वप्न में गिर पड़ने पर तब तक पीड़ा नहीं शान्त होती जब तक कि स्वप्न न टूटे मनुष्य न

सके। कवि ने ऐसे ही स्वप्न में पड़े मनुष्यों का उन्हीं की दृष्टि से चित्रण किया है और उन्हीं को सामाजिक व्यवस्था तथा नैतिक उपदेश दिए हैं जो बच गए हैं। उनके लिए न कोई व्यवस्था है और न बन्धन। कवि कदाचित् यह भी चाहता रहा हो कि मायामोह में पड़े मनुष्यों के दुःख दर्द का विशद चित्रण पाकर अपने को जगा दे और उनको सच्चे मार्ग पर प्रवृत्त कर दे। इस प्रकार यथार्थ प्रेम जीवन की विषमता और दुःख-दर्द के मर्मान्तक चित्र कवि के आदर्श तथा आध्यात्मिक लक्ष्य के पोषक तथा पूरक बन गए और उनमें कोई विरोध न रहा। इस यथार्थ ने कवि के आदर्श को और भी स्पृहणीय बना दिया। आदर्शवादी होते हुए भी कवि ने यथार्थ की अवहेलना न की।

यथार्थ प्रेम के समान ही सर्वांगीणता भी उसके काव्य की बहुत बड़ी विशेषता है। कवि को जीवन के ऊँच-नीच का बड़ा व्यापक और गहरा अनुभव था। उसने दुःख और सुख दोनों के दिन देखे थे। भिखमंगों से लेकर बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं से भी उसकी घनिष्ठता थी। विद्वानों से लेकर अपढ़-मूर्ख तक से उसका पाला पड़ चुका था। अनेक यात्राओं के बीच वह अनेक प्रदेश और विविध स्वभाव के मनुष्यों से परिचित हो चुका था। इन सबका निचोड़ उसके काव्य में प्रतिबिम्बित हुआ। अतएव इस कवि के यथार्थ चित्रों में लोगों को अपने ही जीवन की झाँकी मिली और चित्रों की सर्वांगीणता ने काव्य को और भी अधिक ग्राह्य बना दिया।

इस यथार्थ के साथ ही साथ कवि ने जिस आदर्श का चित्र उपस्थित किया उसमें उसकी जनता के प्रति व्यापक सहानुभूति भी अंकुरित हुई। वह जनता को कष्टों से छुटकारा पाने का मार्ग बताता है। उसके उद्गारों ने जनता के हृदय में आशा का संचार किया। भक्ति के उपदेशों ने जनता को उच्च जीवन का आश्वासन दिया और जनता ने कवि को आत्मसमर्पण कर दिया। इस प्रकार कवि उनका पथ-प्रदर्शक बन गया। तुलसी की

जनता का विश्वास प्राप्त हो गया।

इस प्रकार यथार्थता उच्चादर्श सर्वांगीणता तथा मानवीयता ने (रसात्मकता से समन्वित होकर) तुलसीदास को धनी-निर्धन ज्ञानी-अपढ़ ऊँच-नीच सभी के हृदय में सदा के लिए प्रतिष्ठित कर दिया। उनका शासन अटल है और उनकी लोकप्रियता अमर है।

की भांति अंतर्कथाएं नहीं हैं परन्तु अनेक अंतर्कथाओं का निर्देश अवश्य है जिससे स्पष्ट है कि तुलसी ने कथासौष्ठव की रक्षा के लिए उन्हें अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है यद्यपि उन्होंने अपनी कथा को पुराणों के ढंग पर ही सोचा है।

पुराणों में वर्षा और शरद् को ही स्थान मिला है, अन्य ऋतुओं के वर्णन नहीं होते। यह एक ऐसी परम्परा है जिसका कारण अज्ञात है। महाकाव्यों में समस्त ऋतुओं दिवस-रात्रि सन्ध्या चन्द्रोदय सूर्योदय वन पर्वत नदी सागर आदि के सविस्तार वर्णन अपेक्षित हैं। रामचरितमानस में महाकाव्यों की प्रकृतिविषयक इन मान्यताओं का अनुसरण नहीं किया गया है। जहां प्रकृति के वर्णन हैं भी वहां वे सविस्तृत नहीं हैं और उनपर नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का आरोप किया गया है। वास्तव में प्रकृति-वर्णन के नाम पर मानस में यदि कुछ है तो पुराण-परिपाटी का वर्षा और शरद ऋतु-वर्णन ही है।

(४) वाल्मीकि रामायण में रावण के जन्म तपस्या वरदान प्राप्ति और ऋषि-मुनियों पर उसके अत्याचार की कथा लंकाकांड में रावण-वध के बाद दी है। रामचरितमानस में यह सारी कथा रामजन्म की भूमिका के रूप में उपस्थित की गई है। इससे कथा विकास में कलात्मकता का समावेश हो जाता है। पाठक जानना चाहता है कि राम रावण युद्ध का क्या कारण है और उसकी जिज्ञासा को रावण-वध तक घटनाएं रखना कला की दृष्टि से एक दोष है। सम्भव है तुलसीदास ने भागवत की दशावतार कथा से रामकथा को इस रूप में उपस्थित करने का सूत्र ग्रहण किया हो।

(५) भागवत में कृष्ण-कथा की समाप्ति पर वेदव्यास ने एकादश स्कन्ध के अंतर्गत आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों पर गीता के रूप में सम्वाद उपस्थित किए हैं। रामचरितमानस के उत्तरकांड में रामकथा बस कुछ पृष्ठों पर समाप्त हो जाती है और शेष पृष्ठों में भागवत के एकादश स्कन्ध की भांति ही आध्यात्मिक विवेचन चलता है। भागवत में

कृष्ण ने उद्धव से गीता कही है रामचरितमानस के उत्तरकांड में भी इस प्रकार की एक गीता है जो राम ने पुरवासियों के प्रति कही है रामचरितमानस के उत्तरकांड में काकभुशुण्डि और गरुड़संवाद का वही स्थान है जो भागवत में एकादश स्कंध का है।

(६) भागवत के द्वादश स्कंध में भागवत के विषयों की सूचनिका उपस्थित की गई है। लगभग सभी पुराणों के अन्त में इसी प्रकार की विषय सूची मिलती है। और अनुकरण रूप में रामचरितमानस के उत्तरकांड में तुलसीदास ने भी काकभुशुण्डि के मुख से इसी प्रकार की सूची कहलाई है।

(७) भागवत की तरह तुलसीदास की रामकथा भी माहात्म्य के साथ समाप्त होती है।

ऊपर हमने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि श्रीमद्भागवत और रामचरितमानस का संगठन एक प्रकार का है और तुलसीदास इस विषय में अवश्य ही श्रीमद्भागवत के ऋणी हैं परन्तु अनेक प्रसंगों की तुलना करने पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तुलसीदास की दृष्टि भागवत के दशम स्कंध पर ही अधिक रही है जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण की कथा है।

तुलसीदास ने किष्किन्धाकांड के अंतर्गत वर्षा और शरद्-वर्णन को भागवत के आधार पर ही लिखा है। कहीं-कहीं तो उन्होंने भागवत की उपमाएँ उसी प्रकार, बदले बिना ग्रहण कर ली हैं।

अंतर केवल इतना है कि तुलसी ने भागवत की दार्शनिक उपमाएँ नहीं ली हैं और प्रसंग को एकदम आत्ममंडित नहीं कर दिया। उनकी दृष्टि नैतिक तत्वों पर अधिक है। तुलसी ने भागवत के प्रकृति-वर्णन ढंग को इसलिए ग्रहण किया है कि यह ढंग उनके लिए अत्यन्त उपयोगी था और तुलसी की नैतिकता और मर्यादा की भावना भी इसमें पुष्टि पा जाती थी। इस ढंग को तुलसी ने अन्य स्थानों पर भी अतिरंजित ग्रहण किया है।

भागवत में गोपियो की कृष्ण-वियोग की प्रलापपूर्ण उक्तियां ही रामचरितमानस के इस प्रसग मे प्रतिध्वनित होती है जहा सीताहरण के बाद राम विरहाकुल होकर लता तरुओ से इस प्रकार के प्रश्न पूछते है—

लछिमन समुझाए बहु भांती । पूछत चले लता तरु पांती ॥
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ॥
कुन्दकली दाड़िम दामिनी । कमल सरद ससि अहि भामिनी ॥
बरुन पास मनोज धनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं । प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं ॥
एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी । मनहु महा बिरही अति कामी ॥

तुलना से यह पता चल जाएगा कि तुलसीदास भागवत के गोपी विरह से परिचित थे । यह तुलसीदास की मौलिकता है कि उन्होंने मूल भावना भागवत से लेकर उसपर रीतिशास्त्र का रंग चढ़ाकर एक नई सृष्टि की है । उन्होंने नारी-अंगों के उपमानों को एक स्थान पर एकत्र किया है और इस प्रकार श्रीजानकी जी के सौंदर्य का उद्घाटन किया है ।

भागवत स्कंध १२ अध्याय २ में व्यास जी ने कलियुग का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है । मानस उत्तरकांड में भी इसी प्रकार कलियुग का वर्णन है ।

ऊपर भागवत के अनेक ऐसे उद्धरण उपस्थित किए हैं जिन सब से हमारे प्रतिपाद्य विषय पर प्रकाश पड़ता है । इनके अतिरिक्त अनेक अन्य प्रसंगों और रचना पर भी भागवत का प्रभाव लक्षित है । भागवत स्कंध १२ अध्याय ३ में नाम संकीर्तन का माहात्म्य है । रामचरितमानस की कथा के प्रारम्भ में तुलसी राम-नाम के माहात्म्य का सविस्तार वर्णन करते हैं ।

(बालकाण्ड दो०१६-२७)। जैसा हम पहले कह चुके हैं उत्तरकाण्ड का ढाँचा भागवत के ग्यारहवें स्कंध पर खड़ा किया गया है परन्तु उसमें दार्शनिक विवेचन की अपेक्षा ज्ञान के ऊपर भक्ति की महत्ता ही अधिक स्थापित की गई है। रामचरितमानस में संत असंत ज्ञान और भक्ति के द्वन्द्व और वर्णाश्रम धर्म को विस्तार मिला है। भागवत के ग्यारह-बारह स्कंध में यही सब विषय आते हैं परन्तु वहां उनका वर्णन विशद नहीं है।

भागवत और रामचरितमानस के दार्शनिक और आध्यात्मिक भावों में भी साम्य है। यद्यपि आचार्यों ने श्रीमद्भागवत पर अनेक दार्शनिक वादों का आरोप किया है हम यह जानते हैं कि उसके मूल में अद्वैत का ही समर्थन होता है। वास्तव में भागवत और रामचरितमानस का आध्यात्मिक संदेश एक ही है। इसे हम अद्वैत भक्ति कह सकते हैं। रामचरितमानस में अद्वैतवाद का ही समर्थन मिलता है परन्तु यह अद्वैतवाद शंकर के अद्वैतवाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद से भिन्न है। यह भिन्नता इस कारण है कि तुलसी की दार्शनिक भूमि उनकी अध्यात्म भूमि से प्रभावित नहीं है। वे तर्कवादी नहीं। एक ही पंक्ति में वे निर्गुण ब्रह्मवादी भी हो जाते हैं और साथ ही सगुण ब्रह्मवादी भी बने रहते हैं। वे उत्तरकाण्ड में कहते हैं—

जै सगुन निर्गुन रूप राम अनूप भूप सिरोमने।

इसी दृष्टिकोण के आधार पर तुलसीदास ने निर्गुण और सगुण में तादात्म्य स्थापित किया है और कहा है—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥

भागवत के श्रीकृष्ण और मानस के श्रीरामचन्द्र में भी समानता है। भागवत के श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं और ब्रह्मा विष्णु, महेश में से कोई भी उनकी कोटि तक नहीं पहुंचते। यही परब्रह्म कृष्ण अवतार धारण करते हैं। इस परब्रह्म कृष्ण का स्वाभाविक रूप निर्गुण है। परन्तु वे अपने सगुण रूप में गोलोक में निवास करते हैं। भक्तों के आनन्द के लिए

गोलोकवासी कृष्ण वृन्दावन मे अवतार लेते हैं। तुलसीदास ने अपने राम को भागवत के श्रीकृष्ण के समान ही प्रतिष्ठित किया है। उनके राम भी परब्रह्म हैं और सगुण रूप से साकेतवासी हैं। ब्रह्मा विष्णु और शिव उनकी वंदना करते हैं। निर्गुण ब्रह्म (राम) भक्तो की रक्षा और पृथ्वी के भारहरण के लिए दाशरथि राम के रूप में अवतार लेते हैं। तुलसी ने कहीं-कहीं राम को महाविष्णु भी कहा है, परन्तु इस ओर उनका आग्रह अधिक नही है। हो सकता है ऐसा अध्यात्मरामायण के प्रभाव के कारण हुआ हो जिसमे राम विष्णु के ही अवतार हैं परब्रह्म नही हैं।

अन्त मे भागवत और रामचरितमानस की तुलना करने पर हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि तुलसीदास ने भागवत का सहारा ही नहीं लिया है उन्होंने अपने सामने भागवत का ही आदर्श रखा है। उन्होंने रामकथा को कृष्णकथा के ढाँचे पर खड़ा किया है और राम का वही रूप गढ़ा है जो रूप भागवत मे कृष्ण का है। इस सामान्य साम्य के अतिरिक्त तुलसी ने भागवत के अनेक प्रसगों वर्णनो और काव्योपयोगी स्थलो से सहारा लिया है और कहीं-कहीं तो उनका उल्था-मात्र कर दिया है। जहाँ-जहाँ तुलसी की मनोवृत्ति भागवत की वर्णनशैली से मिल गई है वहाँ-वहाँ तुलसी ने वह वर्णनशैली अपना ली है। उदाहरणार्थ हम वर्षा और शरद् के वर्णन उपस्थित कर सकते हैं। तुलसी नीति को महत्व देते थे। वे समाज और व्यक्ति के जीवन को मर्यादा-वाद से पोषित देखना चाहते थे। भागवत के उपर्युक्त वर्णनों ने उन्हें इसीलिए आकृष्ट किया कि उनकी शैली मे वे प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ उन नैतिक तत्वों की स्थापना कर सकते थे। भागवत में भी सत्-असत् और वर्णाश्रम संस्थापन जैसे विषयो पर लिखा गया है, परन्तु तुलसी को इस समय में इन विषयो पर अधिक विस्तार से और अधिकारपूर्ण ढंग से कहने की आवश्यकता थी। इसीलिए तुलसी ने इन प्रसगों पर विशेष बल दिया। यह भी सम्भावना है कि तुलसीदास ने भागवत के उद्धव के चरित्र को अपने सामने रखकर ही भरत के चरित्र का निर्माण किया है। [illegible] नाम

माहात्म्य आत्मा-परमात्मा और भक्तियोग के प्रकरणों में भी तुलसी थोड़े बहुत भागवत के ऋणी हैं।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस—वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों रामकथा-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। राम कथा-सम्बन्धी सबसे पहला ग्रन्थ कदाचित् वाल्मीकि रामायण ही है। यद्यपि कुछ विद्वानों का कहना है 'दशरथ जातक' इससे पहले की चीज है या इसकी समकालीन रचना है। जो हो वाल्मीकि रामायण रामकथा का आदि ग्रन्थ है और तुलसी ही क्या सभी पुराण और रामायणें अपनी कथा के लिए इसी ग्रन्थ की ऋणी हैं।

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में सबसे महान् अन्तर दृष्टिकोण का है। वाल्मीकि चरितकाव्य लिख रहे हैं। पहले ही श्लोक में वाल्मीकि नारद से पूछते हैं "इस समय संसार में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ कृतज्ञ सत्यवादी दृढ़व्रत बहुत प्रकार के चरित्र करने वाला प्राणीमात्र का हित करनेवाला विद्वान्, शक्तिमान्, प्रति दर्शनीय आत्मज्ञानी क्रोध जीतने वाला तेजस्वी निन्दारहित जिसके संग्राम में क्रोध उत्पन्न होने पर देवता भी भयभीत हों ऐसा कौन है? हे महर्षि! यह जानने की मुझे उत्कट इच्छा है और आप ऐसे मनुष्यों के जानने में समर्थ भी हैं।" नारद जी उत्तर में अयोध्या के राजा रामचन्द्र का नाम लेते हैं और उनके गुण बतलाते हैं। इन श्रेष्ठ चरित्रवान् पुरुष श्रीरामचन्द्र में विष्णु के अवतार का भी आरोपण किया गया है। पुत्रेष्टि यज्ञ के अवसर पर ब्रह्मा सहित देवता विष्णु से प्रार्थना करते हैं कि वे रावण आदि राक्षसों के नाश के लिए मनुष्य रूप में अवतार लें और विष्णु राजा दशरथ को अपना पिता बनाना स्वीकार करते हैं। विद्वानों का कहना है कि राम में विष्णुत्व का आरोप वैष्णव धर्म के प्रथम पुनरुत्थान के समय हुआ और वे अंश प्रक्षिप्त हैं जिनमें राम को विष्णु या विष्णु का अवतार कहा गया है। यदि हम इन अंशों को प्रक्षिप्त स्वीकार न करें तो हम यह कह सकते हैं कि वाल्मीकि विष्णु के अवतार राम को श्रेष्ठ

चरित्रवान् पुरुष के रूप में सामने रख रहे हैं।

तुलसीदास राम को श्रेष्ठ और आदर्शचरित्र के रूप में उपस्थित नहीं कर रहे हैं। उनके राम तो स्वयं भगवान् हैं जो मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर हैं। वे अपनी लीला द्वारा संसार के सामने सांसारिक व्यवहारों में मर्यादा और श्रेष्ठतम गुणों की स्थापना भले ही करते हों तुलसीदास की रामकथा रामभक्ति की स्थापना के लिए लिखी गई है। यही एक सत्य तुलसी के आगे है। वे कहते हैं—

रामकथा जग मंगल करनी।
रामभक्ति-भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥
रामचरित सर बिनु अन्हवाएँ। सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ॥

तुलसी का सारा ग्रन्थ इसी रामभक्ति पूर्ण दृष्टिकोण से प्रभावित है। तुलसी के राम विष्णु के अवतार नहीं परब्रह्म हैं। वे ब्रह्मा विष्णु और महेश के ऊपर हैं (बिधि हरि सम्भु नचावन हारे)। वे यहां भक्तों और साधुओं के परित्राण के लिए और दुष्टों के विनाश के लिए अवतार लेते हैं या भक्तों के आनन्द के लिए अथवा भक्ता की बात पूरी करने के लिए।

वाल्मीकि और तुलसी के चरित्र-चित्रण में महान् भेद है। इस भेद के तीन कारण हैं—१ जहां वाल्मीकि एक श्रेष्ठ चरित्रवान् का चरित्र लिख रहे हैं वहां तुलसी मर्यादा पुरुषोत्तम राम की लीला लिख रहे हैं। २ वाल्मीकि के चरित्र आदर्श और महान् होते हुए भी देवता नहीं हैं यद्यपि कुछ पंक्तियों में उन्होंने उनपर देवत्व का आरोपण अवश्य किया है। उनमें मनुष्य की दुर्बलताएं भी हैं। वे मानव हैं। ३ तुलसी के लगभग सभी पात्र रामभक्त हैं। वास्तव में उनके दो व्यक्तित्व हैं—एक भक्त का एक साधारण। वाल्मीकि के पात्र इस प्रकार रामभक्त नहीं हैं जिस प्रकार तुलसी के पात्र हैं। पात्रों में रामभक्ति की स्थापना उनकी मौलिक कल्पना है। पात्रों के भक्तिपूर्ण व्यक्तित्व ने उनके स्वाभाविक चित्रण में बाधा डाली है। इसी भक्ति के दृष्टिकोण के कारण विभीषण और मंदोदरी का चरित्र-चित्रण कुछ इस प्रकार हो गया है कि तुलसी के उद्देश्य से अपरि

चित आलोचक इन स्थलों को दोषपूर्ण समझता है। तुलसी ने रामकथा में भी कुछ इस प्रकार के परिवर्तन उपस्थित कर दिए हैं कि चरित्र-चित्रण वाल्मीकि से भिन्न हो गया है। उदाहरण के लिए, उन्होंने पात्रों को संयमित और मर्यादित करने की विशेष चेष्टा की है। रामायण का प्रत्येक पात्र-परिस्थिति विशेष में पहुंचकर आत्महत्या करना चाहता है। कौशल्या राम से हठ करती है कि मुझे वन ले चलो नहीं तो मैं आत्महत्या कर लूंगी। सीता और लक्ष्मण भी इस प्रकार की बात कहते हैं। आवेश में आकर वाल्मीकि के पात्र मर्यादा का ध्यान छोड़ देते हैं। राम अपनी माता को पातिव्रत्य का उपदेश देने लगते हैं। यह अनुचित है। तुलसी में हमें ऐसे प्रसंग नहीं मिलेंगे। वाल्मीकि में लक्ष्मण दशरथ को बांधकर बल पूर्वक राज्यप्राप्ति की बात रामचन्द्र को सुझाते हैं। स्पष्ट है कि तुलसी इस प्रकार की बात स्वीकार नहीं कर सकते। इस प्रकार के परिवर्तनों ने तुलसी के चरित्रों को अधिक प्रिय बना दिया है और उनकी उग्रता दूर की है। इसके अतिरिक्त तुलसी ने अपने चरित्रों के उन लांछनों को धोने की चेष्टा की है जो वाल्मीकि के पाठक उनपर लगाते हैं यद्यपि वे सब नहीं सफल नहीं हुए हैं। वाल्मीकि के दशरथ स्पष्टतः लांछित हैं व भरत के साथ अत्याचार करते हैं जैसे अनेक स्थानों से सिद्ध हो सकता है। दशरथ राम से कहते हैं—

"जब तक भरत इस नगर से बाहर है तभी तक तुम्हारा राज्याभिषेक हो जाना मैं उचित समझता हूं।

और जब भरत कैकेय देश से लौटकर अयोध्या में प्रवेश करते हैं तो वे अपने मन की बात इस प्रकार कहते हैं—

"मैं तो यह सोचकर चला था कि या तो राजा श्रीराम का अभिषेक करेंगे या कोई यज्ञ करेंगे।"

इन दोनों प्रकरणों से महाराज दशरथ की दुर्बलता प्रकट हो जाती है और उनके मानसिक संघर्ष का पता चलता है। तुलसी ने दशरथ और भरत के चरित्रों की यह दुर्बलता दूर कर दी है और उन्हें आदर्श पिता

और भ्राता बनाने की चेष्टा की है। वाल्मीकि के गुह और लक्ष्मण भरत पर सन्देह करते हैं, परन्तु तुलसी तो भरत पर सन्देह करना जानते ही नहीं। उनके लक्ष्मण तो भरत को देखकर प्रेम-विह्वल हो जाते हैं। वाल्मीकि के राम वनवास से लौटकर भरत के साथ राज्य करने की बात स्वीकार करते हैं और लौटने पर उनसे ही राज्य करने को कहते हैं। यह स्पष्ट है कि वाल्मीकि रामायण में एक राजनैतिक चक्र चल रहा है जिसका थोड़ा भी आभास तुलसी में नहीं है। नीचे हम वाल्मीकि और तुलसी के पात्रों की तुलना करते हैं—

राम—जैसा हम कह चुके हैं वाल्मीकि के राम श्रेष्ठ चरित्रवान् पुरुष हैं। वाल्मीकि उन्हें सर्वगुणसम्पन्न मन को वश में करने वाला वशी धैर्यवान ऐश्वर्ययुक्त, बुद्धिमान्, नीतिज्ञ मृदुभाषी और वीरनायक के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। रामचन्द्र जी का चरित्र बहुत कुछ इसी आदर्श के अनुरूप है। वाल्मीकि रामायण के राम के चरित्र का अध्ययन करने के लिए अयोध्याकाण्ड और लंकाकाण्ड विशेष उपादेय हैं। अयोध्या-काण्ड में राम केवल एक स्थान को छोड़कर जहाँ वे आत्महत्या के लिए तैयार होते हैं सब प्रकार से आदर्श हैं। वे उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ और वीर गम्भीर पुरुष हैं। अरण्यकाण्ड में हमें उनकी गम्भीर विप्र-वेदना के दर्शन होते हैं। तुलसी में चित्रित राम का चरित्र अधिक संपन्न है। तुलसी ने अरण्य किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डों में उनके भक्त-वत्सल दिखाने की विशेष प्रकार से चेष्टा की है। अनेक ऋषियों से भेंट होने के प्रसंग में भगवान् के चरित्र की यह विशेषता स्पष्ट है। वाल्मीकि में इस ओर विशेष प्रयत्न नहीं किया गया है क्योंकि उनका दृष्टिकोण ही दूसरा था। तुलसी ने इन प्रसंगों को अध्यात्म के आधार पर खड़ा किया है। जहाँ राम इसी प्रकार भक्तवत्सल परब्रह्म हैं, वहीं पर वाल्मीकि के देवत्व से रहित मात्र मानव राम का चरित्र अत्यन्त ही आकर्षक बन पड़ा है।

लक्ष्मण—दोनों के लक्ष्मण में विशेष भेद नहीं है। वास्तव में तुलसी ने वाल्मीकि और अध्यात्म दोनों के लक्ष्मणों को स्वीकार कर एक कर दिया है। वाल्मीकि के लक्ष्मण अत्यन्त तेजस्वी उग्र स्वभाव वाले

अतुलनीय वीर योद्धा और भावुक भ्रातृ-सेवक हैं। तुलसी कुछ उग्र प्रसंगों को हटा देते हैं जैसे अयोध्याकांड में वनवास का समाचार सुनकर उनका क्रोध—'हे पुरुष-श्रेष्ठ मैं इस सारी अयोध्या को तेज तीरों से बिना मनुष्यों के कर दूंगा यदि कोई तेरे विरुद्ध खड़ा होगा। भरत के पक्ष का अथवा जो कोई उसका हित चाहता है, उन सबको मार डालूंगा"। इसी तरह वे अयोध्या लौटते सुमन्त्र से राजा दशरथ के लिए कठोर वाक्य कहते हैं तुलसी के राम उन्हें दबा देते हैं। यहां लक्ष्मण का कथन मर्यादा और नीति के विरुद्ध होता है। परन्तु शेष स्थलों पर उग्रता कमी है। मानस के लक्ष्मण का दूसरा रूप जिज्ञासु का है—यह रूप अध्यात्म रामायण से आया है जहां लक्ष्मण पंचवटी में राम से भक्ति और ज्ञान विज्ञान की चर्चा चलाते हैं। अध्यात्म में लक्ष्मण राम के ब्रह्मरूप से परिचित हैं और स्वयं भी गुह को उपदेश देते हैं। मानस में भी वे गुह को उपदेश देते हैं।

भरत—तुलसी ने भरत के चरित्र को उद्धव के आधार पर स्वतः रचा है। उनकी उग्रता कम की है और राम-विषयक भ्रातृभक्ति के ऊपर रामभक्ति के स्वर बराबर बजते हैं। तुलसी ने भरत के चरित्र को कई प्रकार प्रिय बनाया है। वाल्मीकि में भरत भाई राम के चरित्र पर संदेह करते हैं यह तुलसी में नहीं। वे कौशल्या के आगे शपथ खाते हैं और कौशल्या उनपर संदेह-सा करती है। तुलसीदास ने भरत और कौशल्या दोनों का चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल बनाया है। वहां संशय को स्थान ही कहां है? वाल्मीकि में भरद्वाज गुह और लक्ष्मण सब भरत के प्रति शंकालु हैं। तुलसी में वे इतने शंकालु नहीं। तुलसी के भरत का चरित्र और व्यक्तित्व सभी पात्रों के ऊपर है। वे अत्यन्त उज्ज्वल तन्तुओं के बने हैं। वनपथ और चित्रकूट में उनके चरित्र को अत्यन्त अधिक विस्तार रूप से तुलसी ने रखा है। तुलसी ने भरत को रामभक्ति का आदर्श माना है।

वाल्मीकि रामायण में दशरथ स्पष्टतः कामी हैं परन्तु इस बात को

केवल दबे शब्दों में कहते हैं। शेष चरित्र-चित्रण एक जैसा है परन्तु जहाँ वाल्मीकि के दशरथ कहते हैं—'मुझे बाँध लो" वहाँ तुलसी के दशरथ अधर्म की बात भी नहीं सोचते वे तो "प्राण जायें पर वचन न जाई" सिद्धान्त की प्रतिमूर्ति हैं वाल्मीकि में दशरथ और कैकेयी के मन में राजनैतिक संघर्ष (कूटनीति) अवश्य है। दशरथ राम के साथ सेना आदि भेजना चाहते हैं। इससे कैकेयी निराश हो जाती है। फिर वशिष्ठ सीता के साथ के बहाने सेना को साथ कर देते हैं परन्तु राम स्वीकार नहीं करते। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि की प्रजा राजा को सामने ही धिक्कारती है—राजा उससे प्रभावित भी होते हैं।

सच तो यह है कि वनवास प्रसंग चाहे तुलसी ने कितना ही मनोवैज्ञानिक बना दिया हो परन्तु उन्होंने इस कूटनीति पर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने केवल राजा के व्यथित मन के मनोविज्ञान की तस्वीर उतारी है, राजनीतिक संघर्ष (या षड्यन्त्र) का आभास भी नहीं दिया है। वाल्मीकि का यह प्रसंग अत्यन्त स्वाभाविक बलवान् और स्पष्ट है यद्यपि उसमें वात्सल्ययुक्त इतने नहीं जितने तुलसी के। तुलसी के दशरथ जहाँ राम के शोक में मरते हैं वाल्मीकि में पुत्र राम के शोक में वस्तुतः आत्मग्लानि से। तुलसी ने वनवास-प्रसंग को इतना विस्तार नहीं दिया गया है विशेषकर दशरथ के मनोवैज्ञानिक संघर्ष को। न उन्होंने सौतिया डाह के यथार्थवादी चित्र ही उपस्थित किये हैं। यहाँ सत्य ही दूसरा है प्रेरणा ही दूसरी है। यहाँ 'भई गिरा अति धीर' ही है। इसीसे तुलसी का अयोध्याकाण्ड दुर्बल मनोवैज्ञानिक होता हुआ भी वाल्मीकि से निर्बल है।

कौशल्या—कौशल्या को कैकेयी का पहले ही डर था यह 'सौतिया डाह' का 'मोह का चर्म' बना के नीचे नीचा ही उभर आता है। कौशल्या राम को वहीं जाने के लिए भी कहती हैं पिता के विरुद्ध भी भड़काती हैं आत्महत्या की धमकी भी देती हैं, राजा को भी डाँटती हैं—परन्तु मानस की कौशल्या तो मर्यादापुरुषोत्तम राम की माँ हैं। उनमें

इस तरह तुलसी की माता क्या ? वह सहज बुद्धि से राम की वैसा भरत को मानती हैं उनपर वाल्मीकि की कौशल्या की तरह सन्देह नहीं करती।

सुमित्रा—सुमित्रा वनवास की बात सुनती है तो उसके पहले उद्गार से तीनों की परिस्थिति समझ में आ जाती है। शेष चित्रण एक सा है। वहा वाल्मीकि में सुमित्रा पुत्र को भाई के प्रति कर्तव्य की शिक्षा देती है, वहां तुलसी में वह राम का वास्तविक स्वरूप जानकर लक्ष्मण को रामभक्ति का उपदेश देती है।

कैकेयी—तुलसी ने कैकेयी के चित्र को रामभक्ति के कारण दुर्बल बना दिया है। सौतिया डाह और पुत्रप्रेम की प्रबलता—ये दो मुख्य सूत्र थे जिनमें वह परिचालित थी परन्तु तुलसी ने दैव का आरोप कर उसके चरित्र को भिन्न प्रकाश दे दिया है। जो हो उनका कैकेई का चित्रण सहृदयपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

गुह—गुह राम का मित्र और सेवक है, परन्तु तुलसी ने उसे भरत की भांति उत्कृष्ट श्रेणी का रामभक्त बना दिया है। यद्यपि कथा में विशेष अन्तर नहीं रखा गया है।

हनुमान् सुग्रीव बालि—इनके चित्रण में हम वीरत्व की प्रधानता देखते हैं। हनुमान् सेना-संचालक चमत्कारी योद्धा आदि के रूप में भी आते हैं। तुलसी ने इन पात्रों में रामभक्ति का समावेश कर दिया है। हनुमान् तो दास्यभक्ति में उसके आदर्श ठहरे।

कुम्भकरण—ये वाल्मीकि में नीतिकुशल कर्मठ योद्धा हैं। तुलसी ने अध्यात्म के आधार पर रामतत्व से परिचित भक्त बना दिया है।

विभीषण—तुलसी ने हनुमान् से लंका में इनकी भेंट कराई है। यह नितान्त नई योजना है जो अध्यात्म में भी नहीं है। वहां विभीषण पहले ही रामोपासक के रूप में मिलते हैं। घर पर रामनाम लिख रहते हैं और तुलसी का पड़ लगाए रहते हैं। इसमें उनका चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल हो गया है और उनका भ्रातृद्रोह भक्ति के आगे दब जाता है।

वाल्मीकि में विभीषण भ्रातृद्रोही राज्यलम्पट और कुलघाती ही है। मीच तो है ही।

रावण—सारे युद्धकांड में राम और रावण का व्यक्तित्व ही व्याप्त है और वाल्मीकि ने वीरकाव्य की दृष्टि से ही उनका चरित्र-गठन किया है। रावण राम का योग्य प्रतिद्वन्द्वी नायक है परन्तु तुलसी ने स्पष्टतः रामतत्व से अभिज्ञ हुये राम को मनुष्य समझने वाला (जिसके लिए तुलसी उसे बार-बार धिक्कारते हैं) योद्धा है। रामायण में वह प्रबल-उत्साही कूटनीतिज्ञ और नीति-निपुण है। तुलसी के मानस के सारे पात्र राम के महत्व से परिचित और उनके भक्त हैं एक रावण ही उनके तत्व से अपरिचित है—यही नहीं वह स्पष्ट रूप से ही उनका विरोध करता है। अध्यात्म रामायण में रावण भी प्रच्छन्न भक्त है, राम के ब्रह्म तत्व से परिचित है।

वाल्मीकि और तुलसी के प्रकृति-वर्णनों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शुद्ध प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से वाल्मीकि तुलसी से कहीं उत्कृष्ट हैं। दोनों में प्रकृति-वर्णन के महत्वपूर्ण स्थल पम्पा सरोवर का वर्णन और शरद्-वर्षा-वर्णन हैं। वाल्मीकि में पम्पासरोवर का वर्णन विस्तृत है यद्यपि उसमें उद्दीपन भाव की स्थापना की गई है। राम लक्ष्मण से कह रहे हैं—"यह पम्पा देखने में अति सुन्दर मालूम होती है इसकी नीली और पीली घास मुझे अत्यन्त सुन्दर मालूम पड़ती है मालूम होता है कि अनेक प्रकार के वृक्षों के नाना पुष्पों की राशि एकत्र की गई है। इन वृक्ष-शिखाओं के अग्रभाग फूलों से लद गए हैं, पुष्पित अनेक लताएं उनके चारों ओर लिपटी हुई हैं। लक्ष्मण यह सुखकर हवा चल रही है यह कामोद्दीपक समय है सुगन्धयुक्त चैत्र मास है, वृक्षों में फल-फूल लग गए हैं। लक्ष्मण फूले हुए इस वन का सुन्दर रूप देखो। मेघ के समान ये पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। वन के ये अनेक वृक्ष हवा से कम्पित होकर समतल पत्थरों पर पुष्प-वृष्टि करके पृथ्वी को ढँक रहे हैं। लक्ष्मण देखो वृक्षों से जो फूल गिर गए हैं, जो गिरने वाले हैं अथवा जो अभी

वृक्षों में लगे हुए हैं, उनसे हवा खेल रही है। पुष्पों से लदी हुई वृक्षों की शाखाओं को कंपाकर जब हवा बहा से चलती है, तब भ्रमर उसके पीछे गाता हुआ चलता है। मस्त कोकिलों के शब्द से वृक्षों को नाना नाचने की शिक्षा देती हुई, पर्वत की गुफा से निकली वायु गाती हुई मालूम पड़ती है। वायु चारों ओर से वृक्षों का कंपा रही है पर इन वृक्षों की शाखाओं के अग्र भाग इस तरह मिले हुए हैं मानो जुट गए हों गुथे हुए हों। चंदन से शीतल इस दक्षिणी वायु का स्पर्श बड़ा ही सुखकर जान पड़ता है पवित्र गंध लाकर यह हवा थकावट दूर करती है। मधुर गन्ध वाले इस वन म भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं मानो हवा से कम्पित वृक्ष गा रहे हों और भ्रमर उनका अनुसरण कर रहे हों। रम्य पर्वत-शिखरों पर उत्पन्न फूल वाले मनोहर वृक्षों के कारण पर्वत ऐसे मालूम पड़ते हैं मानो उनके शिखर आपस मे जुड़े हों लक्ष्मण इस वन में अनेक पक्षी बोलते हैं और यह वसन्त सीता के विरह-काल म मेरा शोक और बढ़ा रहा है। शोक से पीड़ित मुझको कामदेव सता रहा है और यह कोकिल तो मुझे प्रसन्नतापूर्वक ललकार रही है अपनी विजय की घोषणा कर रही है। इस वनैले स्रोत के सामने जल-कुक्कुट प्रसन्न होकर बोल रहा है और कामयुक्त मुझको दुःखी बना रहा है। इसका शब्द सुनकर मेरे साथ रहने वाली मेरी प्रिय सीता प्रसन्न होकर मुझे बुलाती थी और बहुत प्रसन्न होती थी।" तुलसी का पम्पा सरोवर-वर्णन इस वन का नहीं है यह बहुत कुछ भागवत के वर्षा-शरद् ऋतु वर्णन के आधार पर लिखा गया है। वास्तव मे तुलसी के लिए प्रकृति वर्णन अप्रधान है नैतिक और धार्मिक तत्वों की स्थापना प्रधान है।

वाल्मीकि और तुलसी के वर्षा-शरद्-वर्णन के अन्तर का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। तुलसी के वर्षा-शरद् का आधार वाल्मीकि नहीं भागवत है। उन्होंने भागवत का आधार लेकर प्रकृति के विस्तार द्वारा वैयक्तिक और सामाजिक मर्यादा और धर्म की स्थापना की है। तुलसी ने भागवत की तरह दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया है और जहाँ-जहाँ भागवत के भौतिक उपकरण को लिया गया है वहाँ-वहाँ भी

थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया है। उनकी प्रकृति धर्मशीला है। वह धर्म के संरक्षण में सदैव तत्पर है। वाल्मीकि के प्रकृति-चित्रण में कोई धर्मभावना नहीं है और न वे नैतिक तत्वों की स्थापना करते हैं। उनके काव्य में प्रकृति का प्रयोग केवल दो प्रकार से हुआ है—१ साधारण संश्लिष्टात्मक वर्णन के रूप में और २ उद्दीपन के रूप में। तुलसी में पहले प्रकार के वर्णन का तो अभाव है दूसरे प्रकार के वर्णन भी केवल सीता-वियोग के समय हैं जहाँ राम वृक्षों आदि को सम्बोधन करते हैं जो वाल्मीकि के इसी प्रसंग से प्रभावित हैं। जैसा हम कह चुके हैं तुलसी का प्रकृति-वर्णन मूलतः नैतिक और धार्मिक तत्वों से प्रभावित है, परन्तु कुछ स्थानों पर उन्होंने हिन्दी कवि परम्परा का भी आश्रय लिया है।

वाल्मीकि रामायण की अधिकांश कथा वर्णनात्मक है और उसमें काव्य के गुणों का अभाव है। वाल्मीकि के नायक राम मुख्यतः वीर नायक और योद्धा हैं और कथा का अधिकांश भाग युद्ध-वर्णनों से भरा है। वाल्मीकि रामायण वीर रस-प्रधान काव्य है और इसीसे युद्धकांड सबसे विस्तृत है। वाल्मीकि के इसी दृष्टिकोण के कारण वीररस का परिपाक अधिक हुआ है। अकेले युद्धकांड में ही अनेक वीररसपूर्ण प्रसंग प्राप्त हैं परन्तु उनमें विभिन्नता बहुत कम है। अन्य रसों का परिपाक वाल्मीकि में नहीं हो पाया है। वाल्मीकि और तुलसी के अयोध्याकांडों की तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी कि वाल्मीकि की वर्णनात्मक शैली में रस परिपाक का अधिक स्थान नहीं है। वाल्मीकि में वीभत्स और भयानक रसों के विशेष प्रसंग नहीं हैं परन्तु तुलसी में जगह स्थान मिला है। वीर रस प्रधान काव्य होने के कारण वाल्मीकि में रौद्ररस के अनेक स्थल हैं। शान्त और भक्तिरसों का तो यहाँ एकदम अभाव है। तुलसी की समस्त रामकथा में भक्ति किसी न किसी रूप में व्याप्त है। संक्षेप में वाल्मीकि वर्णन करके ही रह जाते हैं कवितारस को पुष्ट नहीं करते।

अध्यात्मरामायण और रामचरितमानस—तुलसी ने रामचरि

मानस की कथा का ढांचा मुख्यतः अध्यात्मरामायण को ही माना है, विशेषतः अरण्य किष्किन्धा सुन्दर और उत्तरकाण्डो की सामग्री बहुत कुछ इसीपर आधारित है।

अध्यात्मरामायण और मानस लगभग एक ही प्रश्न से शुरू होते हैं। अध्यात्मरामायण मे पार्वती पूछती है—"कोई-कोई कहते हैं कि राम परब्रह्म होने पर भी अपनी माया से आवृत हो जाने के कारण अपने आत्मस्वरूप को नही जानते थे। इसलिए अन्य (वशिष्ठादि) के उपदेश से उन्होने आत्मतत्त्व जाना। (१।११) "यदि वे आत्मतत्त्व को जानते थे तो उन परमात्मा ने सीता के लिए इतना विलाप क्यो किया ? (१।१४) दोनों ग्रन्थों म राम-सीतातत्त्व मे समानता है। सीता हनुमान् से कहती है— 'वत्स हनुमान्, तुम राम को साक्षात् अद्वितीय सच्चिदानन्द धन परब्रह्म समझो। ये निःसन्देह समस्त उपाधियो से रहित सत्ता मात्र मन तथा इन्द्रियो से अविषय आनन्दघन निर्मल शांत निर्विकार, निरंजन सर्वव्यापक स्वयप्रकाश और पापहीन परमात्मा ही हैं। और मुझे संसार की उत्पत्ति स्थिति और अन्त करने वाली मूल प्रकृति जानो। मैं ही निरालस्य होकर इनकी सन्निधिमात्र से इस विश्व की रचना किया करती हूं। मानस में राम को जगदीश और सीता को माया कहा गया है।

रामचरितमानस की समस्त कथा अध्यात्मरामायण की कथा को सामने रखकर लिखी गई है और विस्तार एवं भक्ति-विषयक विशेष परिवर्तन के सिवा दोनो म अंतर नही है। वास्तव में अध्यात्म की कथा मे वाल्मीकि की कथा ही थोडे परिवर्तनों के साथ सक्षेप में उपस्थित की गई है। वह वाल्मीकि रामायण की ही कथा है। परन्तु उसका आधार अध्यात्मज्ञान है या रामसीतातत्त्व-मीमासा। तुलसी इस मीमांसा से कुछ दूर तक सहमत हैं। राम-सीता के ब्रह्म-प्रकृति होने के विषय म उनके वही सिद्धान्त हैं। भक्ति के सम्बन्ध मे भी वे लगभग वही कहते हैं। परन्तु जीव ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध मे वे कुछ भिन्न विचार रखते हैं। अध्यात्म वेदान्त (अद्वैत) ग्रन्थ है। तुलसी ने जीव को 'अंश' कहा

है। वे 'भिक्तमार्ग' के कायल हैं। वे इस विषय में विशिष्टाद्वैती जान पड़ते हैं। अभेदभक्ति और तत्त्वज्ञान का अर्थ है—मोक्ष (सायुज्य) अथवा सारूप्य परन्तु तुलसी सामीप्य और सालोक्य ही पसंद करते हैं।

अध्यात्मरामायण में कथा का विकास इतनी क्षिप्र गति से हुआ है कि किसी प्रकार के काव्यगुण को प्रकट होने का समय नहीं मिला है। रस अलंकार संवाद वर्णन—सभी की दृष्टि से अध्यात्म बहुत कुछ शून्य है। रचयिता का ध्येय परमात्मतत्त्व का निरूपण है। कहीं-कहीं भक्ति की भी सुन्दर व्याख्या है, परन्तु इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में भावुकता और सहृदयता को स्थान नहीं मिला है यहा तक कि राम और सीता के दो-चार सुन्दर चित्र भी उसम नहीं हैं। हा अध्यात्म-क्षेत्र से ली हुई उपमाएं अवश्य नवीनता प्रकट करती है।

अध्यात्मरामायण मे वर्णन अवश्य अच्छे हैं परन्तु उनका आधार वाल्मीकि है और सक्षेप में होने के कारण वे भली भाति विकसित नहीं हो सके है।

जहां सक्षेप म कहने की प्रवृत्ति इतनी है, वहा मनोविज्ञान के लिए स्थान कहा ? अयोध्याकाड जैसा मनोवैज्ञानिक परिस्थिति-प्रधान कांड गिनती के श्लोकों में समाप्त कर दिया गया है। परशुराम लक्ष्मण तो हैं ही नहीं।

चरित्र-चित्रण की ओर भी विशेष प्रयत्न नहीं है। पात्रों के चरित्र की रेखा वाल्मीकि के आधार पर ही खड़ी गई है। साधारणतः रामकथा मे जिस प्रकार का चरित्र-चित्रण हो सकता था वह है। लेखक की और से विशेष प्रयास कहीं भी नहीं है। परन्तु वाल्मीकि की कथा का धरातल लौकिक है, यहा भक्तिपूर्ण आध्यात्मिक। अतः पात्रो में रामभक्ति की भी व्याप्ति है, यद्यपि उतनी नहीं जितनी तुलसी में। राम ब्रह्म हैं, वे सभी जानते हैं अतः उनसे सारूप्य मोक्ष और वरदान की आशा रखते हैं। विरोधी दल के कुम्भकरण मन्दोदरी शुकसारण माल्यवान विभीषण

सभी रामभक्त हैं। यहां तक कि रावण भी प्रच्छन्न राम-भक्त है, मुक्ति की आशा में ही लड़ रहा है। तुलसी ने रावण एकदम राम की ब्रह्मसत्ता को अस्वीकारकर देता है। वह भीषण अहंकार का प्रतीक बन गया है। वहां वह प्रच्छन्न भक्त नहीं है। देवताओं की स्थिति वही है जो भागवत में है। वे स्वार्थी और भीरु हैं। सदैव फूल बरसाते रहते हैं।

अध्यात्मरामायण शुद्ध अद्वैत वेदान्त का ग्रन्थ है जो परमात्मा और जीवात्मा में तत्त्वतः अभेद मानता है। भेद का कारण मायाजन्य अज्ञान या अविद्या है। आत्मा ज्ञानमय और सुखस्वरूप है उसमें दुःख की प्रतीति अध्यास द्वारा ही होती है। भ्रम से जो अन्य की प्रतीति होती है वह अध्यास है जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति। इसी प्रकार ईश्वर में संसार की प्रतीति हो रही है। निरामय निष्कल मायारहित चित्स्वरूप आत्मा में 'अहंकार' रूप अध्यास के कारण इच्छा अभिलाषा रागद्वेष और सुख दुखादि-रूप बुद्धि की वृत्तियों का जन्म होता है जो जन्म-मरण का कारण है। अज्ञान (अविद्या) के नाश होने और सत्स्वरूप (तत्त्वमसि) का ज्ञान होने पर भ्रम (अध्यास) का परिहार हो जाता है। परमात्म भाव (मैं ही ब्रह्म हूं) के चिंतन में ही मुक्ति है। इसके अतिरिक्त वह यह भी जाने कि समुद्र में जल कूप में कूप महाकाश में घटाकाशादि की तरह यह सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच भी आत्मा के साथ अभिन्न है और चन्द्रभेद और दिग्भ्रम की भांति मिथ्या है (रामगीता उत्तरकाण्ड)। अध्यात्मरामायण की भक्ति शुद्ध विज्ञानभक्ति (या ज्ञानभक्ति है) जिसका फल मोक्ष है।

तुलसी की मौलिक देन को समझने के लिए यही आवश्यक नहीं है कि हम उनके मूल स्रोतों की ओर इंगित करें अथवा उस योगायोग की चर्चा करें जो प्राचीन सुभाषितों नाटकों महाकाव्यों और पुराणों के मंथन तथा उपलब्ध सामग्री के संकोच एवं विस्तार पर अवलंबित है। तुलसी की मौलिकता का मूल उत्स कहां है यह भी हम देखना होगा।

निवारण किया है, यह भी विचारणीय होगा। पिछली सदह शताब्दियों की सिमिमिबद्ध एवं प्रवहमान समस्त सांस्कृतिक-साहित्यिक निधि को तुलसी अपनी साधना में किस प्रकार एवं किस प्रक्रिया के द्वारा समीकृत कर सके हैं, यह उद्घाटित किए बिना हम तुलसी की मौलिकता का वास्तविक स्वरूप निश्चित नहीं कर सकेंगे।

तुलसी की मौलिकता का सबसे उत्कृष्ट स्वरूप हमें राम के व्यक्तित्व स्थापन और राम भक्ति के प्रस्तार में मिलता है। ये दो तत्व तुलसी की रामकथा और उनकी जीवनदृष्टि को सार्वभौमिकता देते हैं। वस्तु-निर्माण और चरित्रचित्रण इन्हीं दोनों तत्त्वों पर आधारित होने के कारण मौलिक और सशक्त बन सके हैं। पहले हम राम के व्यक्तित्व को लें। दाशरथि राम तुलसी के राम नहीं हैं, इसको तुलसी ने अपनी रामकथा की भूमिका में ही स्पष्ट कर दिया है। पुराणों का अनुसरण करते हुए उन्होंने जय विजय के शापमोचन के लिए वाराह और नरसिंह अवतारों की योजना की है और अंत में जलधर तथा प्रतापभानु की कथाओं का आश्रय लेकर रामावतार का विवेचन किया है। परन्तु इस शापमोचन के साथ कश्यप अदिति की वरदान-प्राप्ति की भी योजना है। एक चौथा अवतार-हेतु नारद-शाप कहा गया है। इस प्रकार एक ही रामकथा जलधर, प्रतापभानु, नारद-शाप और कश्यप अदिति के वरदान से चार भिन्न-भिन्न भूमिकाओं पर चलती है। फलतः चार भिन्न कांडों की भी कल्पना है। ये सब पौराणिक जन्म-हेतु विष्णु के अवतार से सम्बन्धित हैं परन्तु तुलसी राम में ब्रह्मत्व की स्थापना कर रहे हैं। फलस्वरूप शिव-पार्वती-संवाद की भूमिका देकर उन्हें विष्णु के अवतार मनुष्य राम को दाशरथि राम के ऊपर उठाकर ब्रह्मत्व देना पड़ा। इस नये योग द्वारा निर्गुण-सगुण के द्वैत के परिहार की सुविधा थी। अतः तुलसी ने जानबूझकर शिवकथा को शिवपुराण से उठाकर रामकथा की भूमिका के रूप में उपस्थित किया और दाशरथि राम में ही निर्गुण राम या परब्रह्म का समाहार किया। शिवकथा 'भागवत'-कथा भी है क्योंकि शिव भक्त की कोटि ही

राम के भक्त हैं। अतः एक अत्यंत प्रिय प्रसंग तुलसी भूमिका के नाते उपस्थित कर सके हैं। शिवकथा में कबीर के निर्गुणवाद की ध्वनि है 'दशरथ-सुत तिहुँ लोक बखाना। राम-नाम का मरम है आना ॥' और तुलसी रामचरितमानस की रामकथा को ही पार्वती के इस प्रश्न का समाधान बनाते हैं—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद ॥

तुलसी का पक्ष शिव के इस उत्तर में है—

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ॥
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी ॥

इसीलिए कथा के बीच-बीच में तुलसी बार-बार दाशरथि राम के निर्गुणत्व अथवा परब्रह्मत्व की घोषणा करते चलते हैं और कथा के अंत में काकभुशुण्डि-प्रसंग के रूप में वे इस प्रसंग को फिर उभारते हैं और सगुण ब्रह्म के दुराग्रही काकभुशुण्डि को राम के निर्गुणत्व का परिचय देते हैं। इस प्रकार निर्गुण-सगुण में कोई भेद नहीं रह जाता। भुशुण्डि के शब्दों में—

ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता ॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता ॥
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा ॥
प्रकृति-पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥
भगत हेतु भगवान प्रभु धरेउ राम तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ॥

इस आयोजना से रामकथा के दाशरथि राम में सगुण अवतारी विष्णु और निर्गुण ब्रह्म पर राम का एकीकरण हो जाता है और राम

कथा 'प्राकृत कवि' द्वारा रचित 'नर-चरित्र' से भिन्न स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

परन्तु रामकथा का स्वाभाविक विकास भी एक व्यापक भूमि पर हुआ है। आरम्भ में कवि रावण-कुम्भकरण-मेघनाद के दुर्दमनीय पराक्रम और राक्षसत्व के अपरिसीम विस्तार की योजना करता है जो देवताओं को भी त्रस्त कर देते हैं। गौ का रूप धारण कर स्वयं पृथ्वी ब्रह्मा के सम्मुख प्रार्थी होती है और अन्त में देवताओं सहित ब्रह्मा यह विचार करते हैं कि कहां चला जाए, परन्तु शिव के कहने पर कि 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥' वहीं स्तुति करने लगते हैं। फलस्वरूप आकाशवाणी के द्वारा उन्हें रामजन्म का आश्वासन मिलता है और अयोध्यापुरी के रघुकुल में एक अति लघु ज्योतिबिन्दु के रूप में वह परात्पर शक्ति भूमि पर अवतरित होती है। इसके बाद रामजन्म-कथा का आरम्भ होता है और अत्यन्त क्षिप्र गति से कथा रामविवाह की ओर अग्रसर होती है। यह स्पष्ट है कि बाल-काण्ड का समस्त समारम्भ तुलसी की उर्वरा कल्पना का बहुमूल्य प्रसार है और उसके द्वारा रामचरितमानस की रामकथा को उपयुक्त मनोभूमि और आध्यात्मिकता मिली है।

इस भूमिका के बाद अयोध्याकाण्ड की कथा खुलती है और अन्य काण्डों में प्रसरित होती हुई अन्त में लंकाकाण्ड में परिसमाप्ति को प्राप्त होती है। वाल्मीकि रामायण में युद्धकाण्ड के अंत में रामाभिषेक के बाद अश्वमेध होता है और मानव-श्रेष्ठ रामचन्द्र राजा रामचन्द्र के रूप में आदर्श बनकर प्रतिष्ठित होते हैं। तुलसी ने रामाभिषेक को उत्तरकाण्ड में सम्मिलित किया है परन्तु रामराज्य की स्वर्णिम कल्पना कर के राजर्षि राम को फिर एक बार अपने भक्त-हृदय की भावभूमि देते हैं और काकभुशुण्डि-गरुड़ संवाद में ऐसी नियोजना करते हैं जिससे वे राम किसी एक युग एक लोक एक काल तक सीमित न रहकर युगातीत लोकोत्तर और अपरिमित बन जाते हैं। इस योजना से जहां बालकाण्ड के आरम्भ

में प्रतिपादित रामत्व की भावभूमि भी है, जहाँ सगुण राम निर्गुण राम की सहजता विस्तृति विकसित कर लेते हैं और पुरुष सूक्त के 'सहस्र शीर्ष सहस्र पाद' विराटत्व के रूपक बन जाते हैं। अगणित भुवनों में भ्रमण करते हुए काकभुशुण्डि असीम मायात्व में भी एकात्मरूपी राम को समान रूप से देखते हैं। वे कहते हैं

उदर माझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रबि रजनीसा॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किंनर। चारि प्रकार जीव सचराचर॥

जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥
एक एक ब्रह्माण्ड महुँ रहउँ बरष सत एक।
एहि बिधि देखत फिरउँ मैं अंड कटाह अनेक॥

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता॥
नर गंधर्ब भूत बेताला। किंनर निसिचर पसु खग ब्याला॥
देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती॥
महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहँ आनइ आना॥
अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनस अनेक अनूपा॥
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी॥
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता॥
प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा। देखउँ बालबिनोद अपारा॥

भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥

इस चमत्कृति अपरिसीमिता और अकल्पित विभिन्नता की पृष्ठभूमि देकर तुलसी राम के 'रामत्व' को इस कुशलता से प्रतिपादित करते हैं

कि मन चकित हो जाता है। अखिल ब्रह्माण्डों की भेदमयी सत्ता के केन्द्र म स्थित अभेद मूल रूप से अग्राह्य और अतीन्द्रिय होने पर भी अपने लीलामय नाम-रूपमूलक प्रसार मे गृहीत और इन्द्रियगम्य है। इस मानव की वैचित्र्यमयी कलाविधियां ही सगुण दाशरथि राम के रूप में परिकल्पित हैं। इस प्रकार अभेद और भेद मे नाता जुड़ जाता है और इस समष्टिमूलक एकात्मिति की भूमिका पर उठकर तुलसी 'सीयराम मय सब जग' जानते हुए इस रूप को ही रूपान्तर का प्रतीक मानकर प्रणमित होते हैं। ऋषि-दृष्टि की यह सर्वमुक्ता और सार्वजनीनता ही तुलसी की विशेषता है। यही 'राम'-दर्शन तुलसी की रचनाओं को केन्द्र देता है और उन्हें द्रष्टा बनाता है। अपने महाकाव्यात्मक उपन्यास 'युद्ध और शांति' मे जिस प्रकार टाल्स्टाय ने नेपोलियन के अभियानों से ऊपर उठकर देश-काल का अतिक्रमण करते हुए कथा को महान् अर्थ दिए हैं उसी प्रकार तुलसी के कथा-सौष्ठव ने वाल्मीकि के युग पुरुष राम को गुणातीत विश्वात्मा अथवा 'परात्पर' बना दिया है। सत्, चित् और आनन्द में प्रतिष्ठित तथा देश-काल वृद्धि ह्रास सर्ग प्रलय से निरपेक्ष परात्पर राम (ब्रह्म) को तुलसी अपना अन्यतम स्वजन बनाकर लोकनायक का रूप देने मे सफल हुए हैं। उनके राम उनके होकर भी सबके हैं। इस प्रकार व्यष्टि की साधना और समष्टि के हित का समाहार हो गया है। सौन्दर्य शील और शौर्य के चरम उत्कर्ष के निरूपण मे तुलसी के राम को इतना मानवीय बना दिया है कि हम क्षण भर म उनके परात्पर रूप को भूल जाते हैं और 'प्रदीप दीप की मोटी मे निलीना' बन जाता है। सगुण-निर्गुण की इस अन्तरंगता का गमन जिस अतर्वीजित मन-भूमि पर सम्भव हुआ है वह कवि की व्यक्ति-गुली भावभूमि है जो उसके लिए स्वयं रहस्य है। इस रहस्य-भूमि का आंशिक उद्घाटन ही रामचरितमानस तथा अन्य रचनाओं म हो सका है। कथा चरित्र भाव और भाषा की सारी शक्ति इस रहस्यनिर्माण मे लगी है परन्तु प्रत्येक पाठक के लिए संवेदना के इस सर्वोच्च सोपान तक

पहुँचना कठिन है। इस सोपान की ओर इंगित करते हुए ही कवि ने कहा है—

रामचरित के मिति जग नाहीं।

रामचरित में तुलसी ने जिन गुप्त प्रगट मणि-माणिक्यों की कल्पना की है उनमे 'प्रगट' राम की चारित्रिक उत्कृष्टता है 'गुप्त' उनका अपौरुषेय दिव्य रूप। तुलसी की रामकथा में रहस्यात्मकता की खोज की गई है और विनयपत्रिका के एक पद (संख्या ५८) में प्रतीकार्थ का आभास भी मिलता है परन्तु इस प्रतीकार्थ से कहीं बड़ी चीज वह असामान्यता है जो स्वयं राम के व्यक्तित्वगत द्वैत में सगुम्फित है जो निर्गुण-सगुण के दो विभिन्न स्तरों पर चलता है और एक समन्वित इकाई की सृष्टि करता है। सम्पूर्ण रामचरित को वर्णित करके भी तुलसी को तोष नहीं होता और वे शिव के माध्यम से कहते हैं—

> रामचरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा॥
> राम अनन्त अनन्त गुनानी। जन्म कर्म अनन्त नामानी॥
> जल सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥

यह विभ्रम और विराटत्व तुलसी की रामकथा को मौलिक अर्थ प्रदान करता है और उसे सार्वकालिकता देता है।

परन्तु राम के इस विराट् रूप को तुलसी ने ज्ञान की विशिष्ट भूमि पर से उतारकर भक्ति के सामान्य धरातल पर स्थिर किया है जो और भी चमत्कारक है। वे रामचरित म अन्तर्निहित 'रस-विशेष' की ओर इंगित करते हैं और उसीमे रामकथा की सार्थकता मानते हैं। रस-विशेष अथवा भक्ति। आदि से अन्त तक रामचरितमानस की प्रत्येक पंक्ति इस विशेष रस से ओतप्रोत है और साहित्य संगीत एवं कला के सारे उपकरण भक्ति-रस की अभिवृद्धि में लगे हैं। तुलसी की अतिरिक्त भक्ति भावना भी रामकथा के पात्रों का एक अंग बन गई है यहाँ तक कि प्रतिपक्षी रावण भी अप्रत्यक्ष भक्त है। फल यह हुआ है कि कथा के सभी चरित्रों में भी

मौलिक रूप से गुणात्मक परिवर्तन हुआ है और रामचरित रामलीला बन गया है। इस 'लीला' भाव में ही भक्त तुलसी की विनय और दास रवि राम के चरित्रगत दोषों का परिहार है। यद्यपि भगवान् राम की इस लीला को तुलसी ने दास्य भाव से देखा है परन्तु उनका दास्य भाव सेवक-सेव्य भक्तिमात्र नहीं है उसमें पुराणोक्त नवधा भक्ति के साथ सम्यगासक्ति-प्रधान विह्वल दैन्य भावना का भी प्रसार है जिसमें मधुर भक्ति की तरलता साफ झलकती है। उत्तरकाण्ड की परिसमाप्ति पर तुलसी दो दोहों में अपने भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देते हैं—

> मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
> अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भव भीर॥
> कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
> तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

विनयपत्रिका के अनेक पदों में दास्य भक्ति का यही तरल और आकुल स्वरूप मिलता है। भक्ति का यह स्वरूप तुलसी का अत्यन्त मौलिक पक्ष है और इसे उनकी साधना का बल प्राप्त है। वास्तव में तुलसी की कवि-दृष्टि दाशरथि राम के लीलात्मक चिन्मय विराट् स्वरूप और अनंत प्रसार तथा अपने भावाकुल दीन समर्पण-प्रधान व्यक्तित्व पर एक साथ और बराबर रही है और इस नैरंतर्य में अनेक द्वन्द्वों और समस्याओं का समाधान स्वतः ही हो गया है। तुलसी के काव्य के इस सूक्ष्म तथा विलक्षण पहलू को ध्यान में रखकर ही हम उनकी मौलिकता को सम्यक महत्व दे सकेंगे। यही उनके साहित्य-कोष का 'बीजक' है।

वास्तव में तुलसी और उनकी विशिष्ट अनुभूति (भक्ति) को केन्द्र में रखकर ही हम उनकी रचनाओं में परम्परा और मौलिकता की कसौटी बिठा सकेंगे। इस दृष्टिकोण से काव्य के व्यक्तिपरक और व्यक्तिनिरपेक्ष रूपों का लोप हो जाता है और तुलसी की रामकथा दाशरथि राम की प्रचलित कथा न होकर भावयोगी तुलसी की स्वलिपि बन जाती है। सामने आता है एक विराट् नैतिक जगत् जिसके केन्द्र में है भोक्ता तुलसी।

राम इस 'महत्' के प्रतीक हैं। भोक्ता तुलसी की अनुभूति ही उस प्रक्रिया को जन्म देती है जो रामचरितमानस जैसी संहुत कलाकृति में परिणति प्राप्त करती है। रामचरितमानस तुलसी के लिए आत्मशोध आत्मोपलब्धि और आत्मनिर्माण का साधन है जैसा तुलसी ने ग्रन्थ के आरम्भ में 'स्वान्तःसुखाय' और अन्त में 'पायो परम विश्रामु' तथा 'स्वान्तस्तमःशान्तये' लिखकर संकेतित किया है। फिर भी यह विशेषता है कि इस प्रक्रिया से छनकर तुलसी की सर्जना व्यक्तिनिरपेक्ष बन गई है। मौलिकता का श्रेष्ठतम सम्बल पाकर भी तुलसी का रामचरितमानस लोक-मानस बन सका है यह तुलसी की कवि-प्रतिभा और उनकी जागरूक कलाकारिता का प्रमाण है। रामचरितमानस कवि के ही जीवन की केन्द्रीय घटना नहीं है, वह भारतीय संस्कृति की मंगलयात्रा की भी प्रमुख घटना है और तुलसी की सक्षम कवि-वाणी का बल पाकर आज भी हममें से प्रत्येक की जीवन की घटित घटना बनने में समर्थ है। जिस मौलिकता ने तुलसी की रचना को ऐसी अक्षय शक्ति दी है उसे प्राचीन ग्रन्थों के भाव-साम्य पर ही समाप्त नहीं किया जा सकता। उसकी जड़ें गहरी गई हैं और तुलसी के व्यक्तित्व उनकी साधना एवं उनके संकल्प-विकल्प में ही उनका प्रसार खोजा जा सकेगा।

८

तुलसी का साहित्यिक उपहार

गोस्वामी तुलसीदास का साहित्यिक उपहार ऐसा नहीं है कि हम उसे उनकी पूर्ववर्ती या सामयिक विभिन्न प्रचलित काव्य-पद्धतियों का अनुकरणमात्र कह दें। हिन्दी-साहित्य का आदिकाल जो लगभग चार-पांच सौ वर्षों के लम्बे अन्तराल के भीतर विविध सम-विषम परिस्थितियों में फूला-फला पहले उसकी ओर ध्यान देना चाहिए। यह क्षेत्र अव्यवस्थित और दो रंगी था। उसका परिचय इसीसे होता है कि इस काल की रचनाएं अपभ्रंश तथा देशभाषा दोनों में उपलब्ध होती हैं। अपभ्रंश काल की कृतियों के नमूने वाली हिन्दी बौद्धों की वज्रयान शाखा के सिद्धों के गीतों वाममार्गोपदेशों मन्त्रमूलक साधनों तथा घट के भीतर विहार निरूपिणी अटपटी वाणियों में देखी जा सकती है। (ये रचनाएं पुरानी हिन्दी के अष्टम शतक से नवम शतक तक के स्वरूप की ज्ञापक हैं) देव सेन नामक जैन ग्रन्थकार (सं० ९९०) कृत 'श्रावकाचार' 'दब्ब सहाव पयास' आदि ग्रन्थ दोहों में इसी काल में बने। इसके अतिरिक्त जैन कवियों की अन्यान्य कृतियां यथा 'सुयपंचमी कहा' 'योगसार' 'जसहर चरिउ' 'णाय कुमार चरिउ' आदि भी पाई जाती हैं। इनमें चरित काव्य या आख्यान काव्य के लिए चौपाई-दोहे की पद्धति ग्रहण की गई है। सौराष्ट्र प्रान्त के योगियों ने भी आदि काल के हिन्दी साहित्य में अपनी अनेकानेक कृतियां छोड़ी हैं। पर सिद्धों और योगियों की रचनाओं के

विषय में यह न भूलना चाहिए कि वे तान्त्रिक विधान योग-साधना प्राण-निग्रह, श्वास-निरोध भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति अन्तर्मुख-साधना के महत्त्व आदि की साम्प्रदायिक शिक्षा-मात्र हैं जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नहीं आतीं। फलतः इनकी चर्चा यहीं छोड़ हम सामान्य साहित्य के अन्तर्गत रचनाओं में हेमचन्द्र कृत उनके अपभ्रंश के उदाहरणों को ले सकते हैं। साथ ही सोमप्रभ सूरि के 'कुमारपालप्रतिबोध' में व्यवहृत अपभ्रंश के पद्यों को भी। जैनाचार्य मेरुतुंग के 'प्रबन्धचिन्तामणि' में मुञ्ज के कहे हुए दोहे अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के बहुत पुराने नमूने कहे जा सकते हैं। शार्ङ्गधर कृत 'शार्ङ्गधर पद्धति' सुभाषित-संग्रह के बीच-बीच में भी देश भाषा के वाक्य आए हैं। परम्परा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने 'हम्मीर रासो' नामक वीरगाथा काव्य की भी रचना भाषा में की थी।

अब दूसरे रूप अर्थात् देश भाषा वाले आदिकाल के काव्य को लीजिए। सामान्यतः यह चारणों और भाटों का काम था जिसे वे अपने आश्रयदाता के पराक्रम विजय शत्रु-कन्या-हरण आदि के समय अलापते थे या रण-क्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें जगाने के लिए रचते थे। इस दशा में काव्य या साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों की पूर्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। अतः वीर-गाथाओं की ही उत्पत्ति हुई। ऐसी रचनाओं में 'बीसलदेव रासो' और 'पृथ्वीराज रासो' प्रभृति ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। भले ही ये सन्दिग्ध हैं पर प्राकृत की कड़ियों से मुक्त भाषा के पुराने काव्य की परम्परा का हम जो संक्षिप्त विवेचन करते हैं वह इन्हीं के आधार पर करने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं। वीरगाथा-काव्य यद्यपि मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपों में उपलब्ध होता है पर विशेष महत्त्वपूर्ण प्रबन्धात्मक स्वरूप ही है। साहित्यिक प्रबन्ध के रूप में जो सबसे प्राचीन ग्रंथ प्राप्त है वह है—'पृथ्वीराज रासो'। यद्यपि यह हमारे साहित्य में आज तक के जितने ग्रन्थ प्राप्त हैं उनमें

सबसे बृहत्काय है तथापि वह आमूलचूल उत्कृष्ट प्रबन्ध काव्य की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि इसके इतने विस्तृत कलेवर समयों (सर्गों या अध्यायों) में अनेकानेक सुन्दर काव्य-सौष्ठव पूर्ण प्रसंगों का सन्निवेश भी है प्राचीन समय में प्रचलित प्रायः सभी छन्दों विशेषतया कवित्त छप्पय, दूहा तोमर, त्रोटक गाहा आर्या आदि का व्यवहार हुआ है किन्तु छन्दों की विविधता अध्यायों की विपुलता और रमणीय काव्यात्मक वर्णनों का होना ही तो उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्य की आधार-शिला नहीं है। वस्तुत प्रबन्ध का मेरुदण्ड है—उसके कथानक की धारावाहिकता उसमें प्रतिष्ठित रागात्मकता उसमे मंगल सार्वदेशीय मानवता और इन सबके मूल म प्रबन्धकार की सर्वभू व्यापिनी दृष्टि का गम्भीर प्रकाश। 'रासो' मे ये बातें कहा? वह तो कवि के आश्रय दाता का प्रशस्ति-गान मात्र है जिसमें जीवन के एकांगी स्वरूप का कृत्रिम प्रदर्शन है। अशान्ति काल का साहित्य होने के कारण यह सांस्कृतिक दृष्टि से भी अपूर्ण है केवल क्षत्रिय जाति के वीरोत्साह का वर्णन करता है। हम इसे अव्यवस्थित प्रबन्ध-काव्य के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं? ऐसे अव्यवस्थित प्रबन्ध मे हमें सुव्यवस्थित परिपाक की आशा भी नहीं करनी चाहिए, अर्थात् 'रासो' की भाषा भी अव्यवस्थित है। व्याकरणच्युत इसकी तिरछी भाषा (अर्थात् कहीं अनुस्वारान्त संस्कृत और प्राकृत की अन्धी नकल कहीं अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के प्रयोग तो कहीं अर्वाचीन हिन्दी के स्वरूप) की लपेट में पड़कर हम प्राचीन हिन्दी भाषा या साहित्य की इतिहास-शृंखला नहीं बांध सकते और न आगे कोई विशेष लाभ ही उठा सकते हैं।

वीरगाथा-काल के अन्य छोटे-मोटे काव्य-ग्रन्थों के विषय मे और कुछ न कहकर जब हम इस काल के अनन्तर प्रवाहित होने वाले निर्गुण-मत-प्रचारक सन्त-साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि इनमें भी काव्य के अविकसित स्वरूप का ही समावेश हुआ है। इसकी रचनाएं केवल मुक्तकों के रूप म पाई जाती हैं। नामदेव कबीर तथा

अन्यान्य निर्गुणियों के दोहे या पद मुक्तक के ही रूप में हैं। उनकी भाषा और शैली अविकसित अव्यवस्थित है। उनमें उपदेशात्मक और प्रचारात्मक वचनों का प्राधान्य है। वे साधनात्मक रहस्यवाद तथा भावात्मक रहस्यवादपूर्ण भी हैं। उनमें धर्मशास्त्रों के प्रति अनास्था और प्राचीन वर्णाश्रम धर्म एवं उसके विधानों की निन्दा भी है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस पद्धति की रचनाएं साम्प्रदायिकता से शून्य थीं या वे मतवाद का विषम विष नहीं वमन करती थीं। उनमें जीवन के प्रति उपेक्षा थी। वे वैराग्य-प्रधान थीं। वैयक्तिक साधना को प्रश्रय देने वाली थीं।

इस सिलसिले में सूफी साहित्य-पद्धति भी अवलोकनीय है। इस पद्धति के कुछ प्रेम-मार्गी सूफी-कवियों की प्रेम-गाथाएं वास्तव में साहित्य कोटि के भीतर आती हैं। इनमें प्रायः सभी कवियों ने कहानियों के द्वारा प्रेम-भाव का महत्त्व दिखाया है। मार्मिक ढंग से लौकिक प्रेम के सहारे उस प्रेम-तत्त्व का आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वर की प्राप्ति कराने वाला है। इनकी सभी कहानियों में सामान्यतः यही वर्णित है कि कोई राजकुमार किसी राजकुमारी के अप्रतिम सौंदर्य की चर्चा सुनकर प्रेमोन्मत्त हो गया। उसकी प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्व त्यागकर भारी से भारी संकटों और आपत्तियों को झेला और अन्त में उसे प्राप्त किया। पर प्रेम की पीर की जो व्यंजना होती है वह ऐसे विश्व-व्यापक रूप में होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे का दिखाई पड़ता है। प्रेम-कल्पना उनकी अतिशयोक्तिपूर्ण व्यंजना बीच-बीच में रहस्यमय परोक्ष की ओर हृदयग्राही मधुर संकेत आदि भी सूफी कवियों की निजी विशेषताएं हैं। कुछ की रचनाओं में साधनात्मक रहस्यवाद हठयोग आदि की जो झलक मिलती है वह भारतीय योगियों रसायनियों और तान्त्रिकों का प्रभाव है। अपनी प्रेम-कल्पना की अभिव्यक्ति के लिए सूफी कवियों ने जिन प्रतीकात्मक कथाओं को चुना वे हिन्दुओं के घर में प्राचीन काल से प्रचलित कहानियां हैं। कहानियों का मार्मिक आधार हिन्दू है। सूफियों के प्रबन्ध-काव्यों की रचना संस्कृत महाकाव्य की सर्गबद्ध-पद्धति पर नहीं

है फारसी की मसनवी शैली पर है पर शृंगार और आदि के वर्णन कुछ
ग्रंथो म चली आती हुई भारतीय काव्य-परम्परा के अनुसार है। इस
पद्धति के सभी प्रबन्ध-काव्यो के छन्द एवं भाषा मे एकरूपता है अर्थात्
भाषा ठेठ अवधी है और प्रयुक्त छन्द है—चौपाई-दोहा। आख्यान-काव्यों
के लिए चौपाई दोहे की परम्परा बहुत पुराने (विक्रम के ग्यारहवें शतक
के) जैन चरित-काव्यो मे मिलती है इसका संकेत ऊपर किया जा चुका
है। सूफी साहित्य-पद्धति में यो तो अनेक कवि आते हैं पर उन सबमे
जायसी विशेष महत्त्वपूर्ण है। इनकी 'पद्मावत' हिन्दी-काव्य क्षेत्र म एक
अनुपम रत्न है।

अब हमे साहित्य की उस पद-पद्धति की ओर देखना है जिसके द्वारा
कृष्णोपासना का मधु स्वरूप द्युतिमान् हुआ। इस पद्धति के विपुल भंडार
को सपन्न करने वाले अपरिमित पदों के सम्बन्ध म कदाचित् यह कहने की
आवश्यकता नही कि वे ब्रज भाषा मे मुक्तक प्रगीतो के रूप में है।
जिज्ञास्य है कि हिन्दी साहित्य म ऐसे मुक्तक पदो का चलन कब से
आया। अमीर खुसरो के गीतों विद्यापति की पदावली तथा कबीर की
पदावली को ध्यान म रखते हुए यह कथन समीचीन होगा कि मुक्तक
पदों की रचनाए भी हिन्दी साहित्य के आदि काल से ही होती रही।
पर उनका चरमोत्कर्ष सोलहवीं शतक मे प्रस्फुटित हुआ जैसा कि कृष्णो
पासक अष्टछाप तथा अन्यान्य कृष्ण-भक्त कवियो की रचनाओ मे प्रकट
होता है। सूरदास के अत्यन्त मधुर और मनोहर पदो को हम पद-पद्धति
साहित्य का सर्वोत्कृष्ट आदर्श कह सकते हैं। इनमे जो रचना-प्रगल्भता
और आख्यानों की परिपूर्णता है उनके आधार पर 'सूरसागर' हिन्दी
चली आती हुई गीत-काव्य परंपरा का चाहे वह मौखिक ही रही हो पूर्ण
विकास-सा प्रतीत होता है। इस पद्धति के वर्ण्य-विषय की ओर देखने से
प्रकट होता है कि इसम कृष्ण की बाल-लीला तथा विशेष रूप से राधा-
कृष्ण की प्रेम-लीला ही सब मे आई है जिन्होंने उनका सर्वांगीण चरित्र
नहीं ग्रहण किया है। फलत: पद रचनाओं म न तो जीवन के अनेक

गम्भीर पक्षों का मार्मिक पोषण हुआ और न अनेकरूपता ही आई है। हां इस पद्धति ने वात्सल्य और शृंगार रस का अगार सागर भर दिया इसमें सन्देह नहीं।

गोस्वामी के पूर्व की पद्धतियों के संक्षिप्त परिचय के साथ उनकी एकांगिता और अपूर्णता का आभास दिया जा चुका। अब जब हम तुलसी की रचनाओं की ओर दृष्टि दौड़ाते हैं तो हमें उनके साहित्यिक उपहार की नवीनता और व्यापकता ही चतुर्दिक दृष्टिगत होती है। उन्होंने चन्दबरदाई की भांति ऐसा प्रबन्ध-महाकाव्य नहीं लिखा जो किसी प्रकार एकदेशीय अव्यवस्थित अनियमित हो या उत्कृष्ट प्रबन्धगत विभूतियों से शून्य हो प्रत्युत उन्होंने ऐसा महाकाव्य प्रस्तुत किया जिसमें प्रबन्ध पटुता की सर्वांगीण कला का पूर्ण परिपाक हुआ और जो हिंदी के प्रबन्ध काव्यों का आदर्श तथा शिरोमणि बना। आश्रयदाता राजा की प्रशस्ति गाने के लिए चारणों या भाटों की जो कवित्त छप्पय सवैया आदि की मुक्तक पद्धति आदि काल में चली थी उसमें भी तुलसी ने भव्य भाषा तथा भाव सभी दृष्टि से पूर्णता ला दी। उन्होंने कवितावली के मुक्तक छन्दों में अपने उपास्य का ऐसा मार्मिक प्रशस्ति-गान किया कि उसकी समता कोई प्राकृत-जन-गुण-गायक कवि क्या करेगा। जिन कवित्त सवैया आदि को चारणों की संकुचित दृष्टि ने वीर या शृंगार की अभिव्यक्ति का एकमात्र छन्द समझा था उन्हीं को बाबाजी ने ऐसे सुडौल रूप से ढाला कि उनमें सभी रसों की सुषमा देखते ही बनती है। कबीर और जायसी के मन्तव्यों का यथोचित सामंजस्य और परिष्कार तथा शैली का संस्कार करके अपना लिया। इस्लामी प्रभाव के कारण इन दोनों में भारतीयता और सांस्कृतिक चेतना का अभाव तो था ही साथ ही वे हिन्दुओं के धार्मिक और सामाजिक ऐतिह्य तथ्यों से पराङ्मुख भी थे। रहस्यवादी तो थे ही। गोस्वामी जी ने इनकी उक्त त्रुटियों को त्याग कर उनकी बातों में पूर्ण भारतीयता और संस्कृति का बोध करके उन्हें सांगोपांग काव्य के रूप में प्रकट किया। उन्होंने पद-पद्धति को भी अप-

गाया। एक ओर उपासना और साधना प्रधान एक से एक बढ़कर विनयपत्रिका के पद रचे और दूसरी ओर लीला प्रधान गीतावली तथा कृष्णगीतावली के पद। उपासना-प्रधान पदों की जैसी व्यापक रचना तुलसी ने की है वैसी इस पद्धति के अद्वितीय कवि सूरदास ने भी नहीं की। पदों की भाषा में प्रान्तीयता और तोड़-मरोड़ की जो बड़ी गाँठें थी उन्हें घुलाकर सार्वदेशीय सुसंस्कृत ब्रजभाषा का बेजोड़ प्रयोग करना भी तुलसी ने सिखाया। उन्होंने कुछ लोकगीतों को साहित्यिक रूप देने का कार्य भी किया जैसा कि नहछू दोनों 'मंगल' और 'बरवै' की रचनाओं से प्रकट होता है।

गोस्वामी ने कवि-कर्म की महिमा तथा उसकी दुरूहता के व्यञ्जनार्थ अपनी प्रभूत विनम्रतावश अपने विषय में कहा है—

कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
कवित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥
० ० ०
कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप रामगुन गावउँ॥

काव्य के विविध रूपों पर अधिकार

इस कथन को देख उनकी अलौकिक कवित्व-शक्ति पर किसी प्रकार का आवरण नहीं डाला जा सकता। यह बात अवश्य है कि मुख्य रूप से वे भक्त थे पर आनुषंगिक रूप से कवि भी। उनकी कृतियां प्रमाणित करती हैं कि काव्य के विविध रूपों पर उनका अनन्य अधिकार था। कविता के मुख्य दो विभाग किए जा सकते हैं प्रथम भावात्मक व्यक्तित्व प्रधान अथवा आत्माभिव्यञ्जक कविता तथा द्वितीय विषय प्रधान अथवा लोकाभिव्यञ्जक कविता। इन दोनों विभागों के लिए वस्तु प्रधान कविता (सब्जेक्टिव पोएट्री) तथा कर्म-प्रधान कविता (आब्जेक्टिव पोएट्री) का प्रयोग भी अनुपयुक्त न होगा। वस्तु प्रधान कविता में कवि का हृदय उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होता है जैसे एक उत्तम मुकु

दर्पण में किसी व्यक्ति का प्रतिबिम्ब। यद्यपि इस प्रकार की कविता कवि के वैयक्तिक विचारों और भावों की व्यञ्जक होती है पर इसके साथ ही यह भी स्मरण रहे कि वे व्यञ्जित भाव मानव-जाति के भावों के प्रतिनिधि होते हैं। तभी तो वे पाठकों को भी आत्मीय उद्‌गार-से प्रतीत होते हैं। शृंगार, नीति स्तुति विनय आदि की मुक्तक रचनाओं का अन्तर्भाव इसी कोटि में किया जाता है। कर्म-प्रधान कविता का कवि के विचारों और मनोभावों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता। इसके विषय साकारिक भाव और *कार्य होते हैं। कवि बाह्य जगत् में जो मिलता है और उसीसे प्रेरित* होकर अपनी कविता का विषय ढूढता है फिर उसे अपनी कला का उपादान बनाता है और अपनी कल्पनाशक्ति को जहाँ तक हो सकता है प्रच्छन्न रखता है। इसकी दृष्टि जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं के निरूपण की ओर रहती है न कि आत्माभिव्यञ्जन की ओर। कर्म प्रधान कविता के दो मुख्य भेद खण्डकाव्य और महाकाव्य हैं। कर्तृ-प्रधान और कर्म-प्रधान दोनों में उत्कृष्ट काव्य हो सकता है, तथापि कर्म प्रधान कविता यथातथ्य पर विशेषतया आधारित होने से विषय के यथार्थ निरूपण के कारण श्रेष्ठ समझी जाती है।

विचारणीय है कि काव्य के उक्त स्वरूपों अर्थात् मुक्तक खण्डकाव्य तथा महाकाव्य पर गोस्वामी ने अपना कैसा अधिकार दिखाया है। मुक्तक काव्य के स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट होते ही सर्वप्रथम हम देखते हैं कि उसमें प्रत्येक पद्य अपनी अलग सत्ता बनाए रहता है। ऐसा नहीं होता कि एक पद्य अपना अस्तित्व रखने के लिए दूसरे पद्यों पर किसी प्रकार अवलम्बित रहता हो। यद्यपि अभिनवगुप्ताचार्य ने कहा है—"पूर्वापर निरपेक्षापि हि ये न रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्" अर्थात् जिसका रसा स्वाद पूर्वापर प्रसंगों की अपेक्षा नहीं रखता उसे मुक्तक कहते हैं ऐसा होने पर यह आवश्यक नहीं है कि मुक्तक पद्य में किसी रस की ही निष्पत्ति हो। उसमें वाग्वैदग्ध्य और सुभाषित अर्थात् नीति-धर्म-उपदेश-समन्वित सूक्ति भी हो सकती है। मुक्तक का उपयोग वस्तुतः नीति-सुभाषित में ही अधिक

पड़ता है क्योंकि इसमें पूर्वापर प्रसंग की इतनी आवश्यकता नहीं रहती। मुक्तक की परिधि में रस के विविध अवयवों को जुटाकर रस की निष्पत्ति का सांगोपांग निर्वाह करना बड़े ही कुशल कवि का कर्म है, फलतः ऐसे प्रसंगों में मुक्तककार को अधिकांश में व्यञ्जना शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। इसमें बहुधा पूर्वापर प्रसंग की कल्पना का कार्य सहृदय पाठक या श्रोता पर छोड़ दिया जाता है। वे मुक्तक का आनन्द उठाने के लिए एक पूरे प्रसंग का स्वतः मानसिक अध्याहार कर लेते हैं। मुक्तक का प्रभाव निम्नांकित इस बात का द्योतक है कि जहां खण्डकाव्य महाकाव्य आदि प्रबन्धों में भाव की पुनः-पुनः दीप्ति होने के कारण कुछ काल तक प्रसरण-शीलता देखी जाती है वहां मुक्तक रचनाओं में यह अवस्था कुछ क्षणों-तक ही टिकती है पर वह इतनी तीव्र और मार्मिक होती है कि उसका प्रभाव भी किसी प्रकार क्षीण नहीं होता। तात्पर्य यह है कि प्रबन्ध में उत्तरोत्तर अनेक रसों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन का दर्शन करते हुए कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी भाव ग्रहण करता है। किन्तु मुक्तक में रस के ऐसे स्निग्ध छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। प्रसंग अधिक से अधिक एक मर्मस्पर्शी खण्ड दृश्य के सहसा सामने आ जाने के कारण पाठक या श्रोता मन्त्र-मुग्ध-सा हो जाता है अवश्य किन्तु कुछ क्षणों के लिए ही। यह भी स्मरण रहे कि मुक्तक की इन कुछ क्षणों की ही सुखकारिणी अनुभूति में भी कभी-कभी जीवनपर्यन्त टिकी रहने वाली विशेष मनःस्थिति की अनूठी व्यञ्जना भी रहती है। प्रबन्धकार प्रबन्ध को नाम-व्यतिक्रम दोष से बचाने परिमाणगत और वर्णन की दृष्टि से पूर्णता लाने तथा उसके अन्यान्य नियमों का निर्वाह करने के नियन्त्रण में पड़ कर स्वच्छन्दता से अपना हृदय खोलकर नहीं दिखा पाता इसके विपरीत मुक्तककार पूर्ण स्वातन्त्र्य के साथ अपने हृदय का अणु-अणु बिना किसी प्रतिरोध के दिखा सकता है। इसके अतिरिक्त मुक्तक की संक्षिप्तता की उपयोगिता भी निर्विवाद है। जीवन के झमेलों में व्यस्त

श्रोताओं को प्रबन्ध का आनन्द उठाने के लिए इतना अनिर्बन्ध अवकाश कहां है। जहां इनका समय परस्पर आनन्द-विनोद में व्यय हो रहा है वहां प्रबन्ध के लिए स्थान नहीं है। सभा-समाजों के लिए मुक्तक की संक्षिप्त रचना ही उपयुक्त है। मुक्तक की इन विशेषताओं को प्रकाशित करने का अभिप्राय प्रबन्ध की गरिमा पर आक्षेप करना नहीं है। प्रबन्ध-काव्य तो श्रेष्ठ है ही किन्तु मुक्तक भी आरोपमुक्त होने से निम्न नहीं कहा जा सकता।

मुक्तक की इस सामान्य चर्चा के अनन्तर हम दोहावली बरवै रामायण कवितावली गीतावली कृष्णगीतावली तथा विनयपत्रिका का नामोल्लेख इसलिए करते हैं कि ये गोस्वामी की उत्कृष्ट मुक्तक रचनाएं हैं। इन्हें मुक्तक की किसी तुला पर तौलिए इनके सभी पद्य सन्तुलित मिलेंगे। ऐसे सन्तुलन के समय हमें यह भी स्मरण रहे कि पांचों उपलब्धियां बराबर नहीं होतीं। अर्थात् तुलसी के सभी मुक्तक पद्य उत्तम कोटि के व्यंग्य-प्रधान काव्य ही नहीं हैं उनमें मध्यम कोटि के गुणीभूत व्यंग्य के नमूने भी हैं और अधम कोटि के अव्यंग्य काव्य के भी। अन्तिम श्रेणी के काव्य में बाबाजी के उन सभी पद्यों की परिगणना करनी चाहिए जिनमें शब्दचित्र और वाच्यचित्र की रमणीयता के साथ उन्होंने सामान्य अनुभूति के क्षेत्र के सामाजिक नैतिक धार्मिक और पारमार्थिक तथ्यों को ही ऐसे नये और विनय ढंग से कहा है कि वे भी अपनी अभिव्यञ्जना और प्रसाद गुण के कारण जन-साधारण के हृदय में घर कर लेते हैं। दोहावली में ऐसे वचनों का बाहुल्य है।

गोस्वामी की मुक्तक श्रेणी में आने वाली रचनाओं के विषय में यह भी ध्यान देने की बात है कि मुक्तक होने पर भी उनमें सभी वस्तु-प्रधान नहीं हैं प्रत्युत अधिकांश रस-प्रधान ही हैं। गीतावली यद्यपि गीतकाव्य है, फिर भी यह आद्योपान्त कथा को लेकर चली है। इसी प्रकार कवितावली के सप्तकाण्ड पर्यन्त जिन पद्यों का निर्माण हुआ है वे सब भी कथा-प्रसंग लेकर चले हैं। केवल उनके उत्तरकाण्ड में कवि का आत्माभिव्यञ्जन सम्मिलित होता है। इसी प्रकार विनयपत्रिका के पदों

में भी उन्होंने अपना वैयक्तिक हृदय खोल-खोलकर दिखाया है। अस्तु, विनयपत्रिका के अधिकांश पद और कवितावली के उत्तरकाण्ड की रचनाओं को कर्तृ प्रधान काव्य कहा जा सकता है, अन्यथा उनकी अन्य मुक्तक रचनाएं भी कर्म-प्रधान काव्य हैं।

विचारणीय है कि गोस्वामी की प्रमुख कीर्ति के मूल आधार मानस के प्रणयन में शास्त्रीय महाकाव्योचित लक्षणों का अनुपालन कैसे किया गया है। संस्कृत के प्राचीन आलंकारिकों में भामह और दंडी प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार मध्यकालीन आलंकारिकों में विश्वनाथ कविराज भी। इन्हीं तीनों के ग्रन्थों में निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों को ध्यान में रखकर उनके प्रकाश में मानस का महाकाव्यत्व दिखाने का प्रयास किया जाता है।

मानस में सर्गबन्ध के स्थान पर जो आख्यान-योजना की रीति अपनायी गयी है वह ऋषि प्रणीत महाकाव्य के अनुसार है। ग्रंथारम्भ में देवों का अभिवादन भी महाकाव्य की रीति का पालन है। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम इस महाकाव्य के धीरोदात्त नायक हैं ही। उसमें चतुर्वर्ग की सिद्धि का उदात्त लक्ष्य भी है उपक्रम में गोस्वामी ने स्वयं कहा है,

अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ग्यान बिग्यान बिचारी॥ नगर वर्णन महाकाव्य का अंग है इसे देखना हो तो जनकपुरी लंका तथा अयोध्या की रम्यता एवं वैभव के द्योतक वर्णनों का अवलोकन कीजिए। ग्रन्थ में समुद्र और सामुद्रिक जलचरों का दृश्य भी अंकित है। पर्वतीय प्रान्तों और वनस्थली की सुषमा चित्रकूट-वर्णन में देखी जा सकती है। ऋतुओं का वर्णन देखना हो तो सीता-हरण के पश्चात् राम के प्रवर्षण-वास के प्रसंग में वर्षा और शरद् ऋतु के रुचिर चित्रण को देखिए। ऋतुराज वसन्त तो अनेकानेक प्रसंगों में चित्रित है विशेषतः जनक की वाटिका में तो उसका अवतार ही बताया गया है। चन्द्रोदय और सूर्योदय के मनोहर वर्णन का अभाव भी नहीं है। उद्दीपन के रूप में वर्णित जनक के उद्यान में सीता राम के पूर्वानुराग का चरमोत्कर्ष-प्रदर्शन भी

अप्रतिम है। महाकाव्य के अन्यान्य लक्षण यथा—संयोग शृंगार, विप्रलम्भ शृंगार विवाह, कुमारोत्पत्ति मन्त्र दूत-कर्म अभियान युद्ध और नायक के अभ्युदय आदि के उत्तमोत्तम वर्णनों की छटा भी मानस मे है। इसके अवोचित विस्तृत अलङ्कृत और सरस एवं भाव-परिपूर्ण होने मे कोई सन्देह नहीं है। इसकी प्रत्येक कथा अपनी उचित परिधि मे वर्तमान है। इसमे श्रुतिमधुर प्रसगानुकूल शब्दो और उपयुक्त नाट्य सन्धियो का भी पूर्ण समावेश है। यह महाकाव्योपयोगी तीनो प्रधान रसो (शृगार, वीर, शान्त) से पूर्णतया अभिषिक्त है पर यह अवश्य है कि इसमे शान्त (भक्ति) रस ही सर्वोपरि विराजमान है अन्य सभी रस इसीके (भक्ति रस के) अंगभूत हैं। इसमे आरम्भ मे खलो की निन्दा और सज्जनो की प्रशंसा का प्रसंग भी सन्निविष्ट है। महाकाव्य के अन्य छोटे-मोटे लक्षण भी इसी भाति मानस पर घटित हो सकते हैं।

इस प्रकार मानस महाकाव्य के प्राय सभी लक्षणों से सम्पन्न है। गोस्वामी ने इस महाकाव्य मे ऐसी विशेषताएं भी सन्निविष्ट की हैं जो उनके जीवनोन्नायक व्यक्तित्व अलौकिक प्रतिभा एवं मानवीय उच्च आदर्शों में अखण्ड आस्था के रुचिर परिणामस्वरूप हैं। अधिकांश संस्कृत महाकाव्य-प्रणेताओ की रुचि जहा पाण्डित्य प्रदर्शनोन्मुख होने के कारण आम्याडम्बर-स्फीत अलोकसामान्य भावभगिमा ग्रहण करने और जन-सामान्य के जीवन-यात्रा-चित्रण से दूर रही वहा लोकोपकारक तुलसी की रुचि सर्वसाधारण के जीवन की व्यापक भूमि पर स्थिर होकर सामान्य वाक्य-शैली के द्वारा भी उत्कृष्ट चरित्र अथवा भाव की अभिव्यक्ति में रमी। अपने उद्वेग जनक युग को प्रतिबिम्बित करते हुए तत्कालीन संघर्षों के प्रशमन की युक्ति निकालने तथा साम्प्रदायिक समन्वय करने का जैसा कुशल प्रयत्न तुलसी ने अपने महाकाव्य मे किया है वैसा केवल आकार-प्रकार और वर्ण्य-वर्णन आदि का अनुपालन करने वाले संस्कृत के अधिकांश महाकाव्य-रचयिताओ से नहीं हो पाया। पात्रो के चरित्रांकन में भी गोस्वामी ने अपनी मौलिक दृष्टि रखी है। यह नही किया है

कि अवतार-कथाओं में गिनाए हुए गुणों का रंग भरकर नायक का ढाँचा खड़ा कर दिया हो या किसी प्रमुख पात्र का चरित्र अविकसित कृत्रिम अथवा असुन्दर बना दिया हो। मनोवैज्ञानिक रीति से चरित्रगत विशेष भावों का उद्घाटन करते हुए पात्रों का जैसा सहज स्वभाव तुलसी ने दर्शाया है वैसा संस्कृत के कुछ ही महाकाव्यों में मिल सकता है। राम के चरित्र में नरत्व और नारायणत्व के अपूर्व सामंजस्य की प्रतिष्ठा के द्वारा तुलसी ने भक्ति का जो अनन्य आलम्बन खड़ा किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भक्ति और भ्रातृत्व का जैसा मणि-कांचन-संयोग भरत के चरित्र में प्रतिष्ठित किया गया है वैसा सर्वत्र सुलभ नहीं। वर्णनों घटनाओं और भावों का जब उचित अनुपात में समन्वय रहता है तो महाकाव्य की श्री और ही प्रकार की होती है। मानस को छोड़कर जब हम संस्कृत के अन्य महाकाव्यों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो वे एक प्रकार से विकलांग-से प्रतीत होते हैं। उनमें घटनात्मकता का ह्रास और वर्णनात्मकता का प्राधान्य स्पष्टतः प्रकट होता है। बृहत्त्रयी में प्रधान 'नैषधीय चरित' में वर्णनों का बाहुल्य ही तो है। घटनाएँ तो नाममात्र की ही हैं। तुलसी ने संस्कृत महाकाव्यों की रूढ़िगत परिपाटी की नकल नहीं की प्रत्युत उन्होंने अपने महाकाव्य में घटनाओं वर्णनों और भावों की बड़ी ही अनुकूल योजना की है।

गोस्वामी के महाकाव्य को पाश्चात्य 'एपिक' की कसौटी से देखकर भी उत्तम ही कहना होगा। 'एपिक' के दोनों भेद—अर्थात् 'आथेंटिक एपिक' तथा 'लिटरेरी एपिक' की विशेषताएँ 'मानस' में वर्तमान हैं। तभी तो इसमें श्रोताओं को संगीत-लहरी का अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है साथ ही सहृदय को साहित्य का। एपिक की आधारशिला कोई आख्यान होता है जिसका कथन तो अपूर्व और उदात्त रूप में रहता ही है साथ ही स्वयं उस आख्यान अथवा उसकी कथन-प्रणाली में [illegible] भी अवश्य रहती है। इस दृष्टि से भी मानस पूर्ण है, क्योंकि आदि कवि की यह अपूर्व रचना है जो अपने इस चरित्र काव्य

में भी अपने प्रधान प्रतिपाद्य भक्ति को इस प्रकार सन्निविष्ट किया है कि वह चरित-प्रवाह के साथ-साथ सरस्वती की गुप्त धारा के समान अप्रतिहतगति चलती है और अन्त में वह पीयूष-निष्यन्द प्रसूत करती है जो सहसा सतृष्ण भक्त-हृदय को परम आप्यायित तथा तृप्त कर देता है। एपिक की प्रमभूत और छोटी-मोटी बातों के अतिरिक्त उसमें निरवधातमा और कुछ अतिप्राकृत उपादानों का सन्निवेश भी रहता है क्योंकि ये दोनों तत्त्व महाकाव्य की कार्यपद्धति में व्यापकता लाते हैं। एपिक में अमरों की अवतारणा भी होती है। वे अपनी वाणी और कार्य से प्रबन्ध में वर्णित कार्यबाण का महत्त्व प्रसार को दिखाते रहते हैं। वस्तुतः महाकवि मनुष्य और मनुष्य के सांसारिक प्रयोजन अथवा सत्य का गान करता है देवा के सत्य का नहीं। देवगण मनुष्य के नियति पथ को प्रकाशित करते हैं अवश्य पर उनके इस सुन्दर प्रकाशन को परिधि के भीतर ही रखना चाहिए। प्रबन्ध-काव्य किसी विशेष प्रकार की जीवन-धारा की अभिव्यक्ति भी प्रतीकात्मक ढंग से करता है। इन विशेषताओं को भी यदि हम मानस में देखना चाहें तो हमें निराश नहीं होना पड़ेगा। यही नहीं हम सिर उठाकर यह भी कह सकते हैं कि तुलसी के महाकाव्य में जैसी आदर्श और उदात्त चरित-कल्पना है वैसी न मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' में है न स्पेन्सर की 'फेयरी क्वीन' में और न दान्ते की 'डिवाइना कमेडिया' में। साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक समन्वय की जो जटिल समस्या तुलसी के सामने थी वह इन पाश्चात्य 'सैकड एपिक्स' के रचयिताओं के समक्ष नहीं थी। लोक-संग्रह की तीव्र भावना से ओत प्रोत होने के कारण तुलसी का महाकाव्य लोक जीवन को पूर्णतया ग्रहण किए हुए है पर दान्ते या मिल्टन आदि के महाकाव्य की रंगस्थली तो इतर लोक में है। मानस और भी कितनी ही विशेषताओं से युक्त है पर उन सबको छोड़कर अब हम दो-चार शब्दों में यह संकेत करना चाहते हैं कि गोस्वामी का खण्डकाव्य रचना पर भी विशेष अधिकार था।

खण्डकाव्य महाकाव्य की भांति प्रबन्धकाव्य ही है। इसीलिए खण्ड काव्य म महाकाव्य के वर्णनीयो मे से कुछ ही सन्निविष्ट किए जाते हैं। खण्डकाव्य मे किसी प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध कथानक-खण्ड को वर्णनीय बना सकते हैं। खण्डकाव्य का आधार काल्पनिक घटना भी हो सकती है और उसका उद्देश्य भी साधारण हो सकता है पर महाकाव्य म महद् उद्देश्य का होना आवश्यक है। खण्डकाव्यान्तर्गत गोस्वामी की ये कृतियां परिगणनीय हैं—रामलला नहछू पार्वती मंगल और जानकी मंगल। नहछू उपवीत के अवसर पर गाया जाने वाला गार्हस्थ्य-जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी गीत है। इसमे अयोध्या मे होने वाला राम के पैर के नखो के कर्तन का पूर्वांग-भूत कृत्य बडे ही रजक ढग से वर्णित है। पार्वती मगल मे पार्वती के विवाह का वर्णन मात्र है जिसमे महाकवि कालिदास के 'कुमारसभव' से भी सहायता ली गई है कुछ स्थल तो छायानुवाद के रूप म ही रखे गए हैं। जानकीमगल मे सीता के विवाह का वैसा ही वर्णन है जैसे पार्वती मगल मे पार्वती के विवाह का। इन तीनो मे कवि ने तत्कालीन गार्हस्थ्य-जीवन की बडी ही सटीक और सुन्दर झांकी [illegible] दी है। ये तीनों ही पूरबी अवधी मे लिखे गए हैं, भाषा बडी ही मधुर और ठेठ रूप मे प्रयुक्त है।

काव्य के त्रिविध स्वरूपों अर्थात् मुक्तक खण्डकाव्य और महाकाव्य पर विशेषाधिकार रखने के परिणामस्वरूप गोस्वामी ने अपने जिस साहित्य का सर्जन किया उसमें प्रयुक्त भाषा पर उनका आधिपत्य भी विचारणीय है। अवधी मे निर्मित रामचरितमानस तथा ब्रजभाषा मे रचित गीतावली कवितावली दोहावली विनयपत्रिका प्रभृति कृतियो की भाषा का मर्म भली भांति समझ सके पर यह कौन नहीं स्वीकार करेगा कि इनके द्वारा उन्हें मध्यकालीन भारत की एक ऐसी भाषा का प्रस्थापन अभीष्ट था जो समस्त उत्तरापथ की राष्ट्रभाषा हो सके। यदि उनका यह व्यापक दृष्टिकोण न होता तो जायसी की भांति वे भी अपने महाकाव्य को कोरी ग्रामीण ठेठ अवधी के संकीर्ण कठघरे मे

बन्द करके रखते ब्रजभाषा वाली कृतियों को एकमात्र ऐसी विशुद्ध चलती और टकसाली ब्रजभाषा में ढालते कि रसखान और घनानन्द भी चौंधिया जाते। वस्तुतः गोस्वामी ने अवधी और ब्रज दोनों के बाह्य रूप और उनकी सूक्ष्म अपरिहार्य प्रवृत्तियों की यथासंभव रक्षा करते हुए उन्हें राष्ट्र भाषा के उपकरणों से सम्पन्न करने का सफल प्रयास किया है। उन्होंने दोनों भाषाओं को प्रशस्त करने और स्थायित्व देने के लिए उनका सम्बन्ध मूल प्राचीन आर्य-भाषाओं से अविच्छिन्न रखकर हिन्दी की परंपरा का पालन एक ओर किया और दूसरी ओर अपने समकालीन समाज के अन्तर्गत विकसित और प्रचलित जन-सामान्य की विभाषाएं और बोलियों तक के ही नहीं अपितु अरबी फारसी आदि विदेशी भाषाओं के अनेकानेक पदजात भी ग्रहण करके दोनों भाषाओं को अधिक से अधिक व्यापक और सर्व-जनमान्य स्वरूप देने का प्रयत्न किया।

भाषा पर आधिपत्य

प्राचीन आर्य भाषाओं में से संस्कृत को वे कैसा महत्त्व देते थे इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि मानस के श्लोक स्तुतियों के छन्द और कहीं-कहीं चौपाइयों की मालाएं भी संस्कृत के तत्सम शब्दों और विशेषतः संस्कृतसम श्रुति से शोभित और स्वरित होती हैं। विनय पत्रिका में शिव और राम-स्तुति-सम्बन्धी अनेकानेक पदों में भी संस्कृत पदावली का प्राचुर्य है। सामान्यतः भी उनकी ऐसी कोई कृति नहीं है जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का अभाव कहा जा सके। गोस्वामी की संस्कृत पदावली ऐसी नहीं है कि उसमें रंचमात्र भी कृत्रिमता की गंध हो या पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए पदजात भरती किए गए हों प्रत्युत ऐसा प्रकट होता है कि संस्कृत के मञ्जु प्रकृतित' प्रयोग उचित स्थान पर स्वयं आकर जम गए हैं, मणिरिवृनिगा" हो गए हैं। यह तो निर्विवाद है कि गोस्वामी के समय की हिन्दी विभाषाओं और बोलियों तक में संस्कृत अनेकानेक शब्द [illegible] न [illegible] गए थे पर [illegible] प्रतिबाधे या कि

वे अप्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग बराबर करते जैसा कि उन्होंने यथेष्ट परिमाण में किया भी है, इसके अतिरिक्त वे केवल संस्कृत में ही चलने वाली पदावली से भी अपनी दोनों भाषाओं के पदों को विभूषित करने में नहीं हिचके हैं।

इस प्रकार गोस्वामी जी की हिन्दी में संस्कृत का समन्वय देखकर हम कह सकते हैं कि वे संस्कृत भाषा-कोविद भी थे। पर मेरा यह कथन उन व्याकरण-शास्त्रियों को खलेगा जिन्होंने अपने इधर-उधर के लेखों में यह दिखाने का प्रयास किया है कि तुलसी ने संस्कृत भाषा की अक्षमता के कारण ही व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग किए हैं। हिन्दी में संस्कृत शब्दों का प्रचुर प्रयोग उन्होंने साभिप्राय किया है। इसके द्वारा एक ओर तो उन्होंने अपनी भाषा को शिष्ट स्वरूप दिया और उसे महत्तम और उच्चतम भावों का वाहक और प्रकाशक बनाया और दूसरी ओर उन्हें देश भाषा के संयत और मनोरम साँचे में ढालकर चमत्कार और हृदयग्राही रूप दे दिया। उनकी यह भाषा-निर्माण की कला अपूर्व है। जिस कारीगरी से उन्होंने संस्कृत शब्दों को देशी रूप दिया संस्कृत की जमीन पर पहले प्रान्तीय भाषा का रंग चढ़ाया और फिर हिन्दी प्रत्ययों और विभक्तियों के बूटे काढ़कर हिन्दी माधुरी की कोर लगाई वह सारी मोहक और आकर्षक छटा उन्हीं का निर्माण है। हमारी मातृभाषा ने उन से अर्पित किया यह परिधान बड़े गौरव के साथ धारण किया है।

संस्कृत के अनन्तर अब प्राचीन आर्य भाषाओं में शौरसेनी और अर्द्ध मागधी प्राकृतों के नाम उल्लेखनीय हैं क्योंकि प्रथम से ब्रजभाषा तथा उसकी बुन्देलखण्डी आदि विभाषाएँ और द्वितीय से अवधी बघेली छत्तीसगढ़ी आदि उद्भूत हुई हैं। गोस्वामी उक्त दोनों प्राकृतों और अपनी दोनों भाषाओं के घनिष्ट सम्बन्ध से पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने दोनों प्राकृतों की कुछ विशेषताओं का समावेश अपनी दोनों भाषाओं में किया है।

तुलसी ने जैसे संस्कृत के प्रशस्त भण्डार से तत्सम शब्दों की भरमार

विभूति ग्रहण करके अपने काव्य मे विशिष्ट भास्वता की स्थापना की वैसे ही उन्होंने प्राकृत के क्षेत्र से होकर आए ग्राम्य तद्भव शब्दों के अपरिमित ऐश्वर्य के द्वारा भी अपनी रचनाओं म अपूर्वता और स्वाभाविकता की अनुपमेय ससृष्टि की है। उनके तद्भव शब्दों के प्रयोग के सबन्ध मे इस भ्रम मे नही पड़ना चाहिए कि उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों को प्राकृत के व्याकरण के अनुसार गढ़कर उनका प्रयोग किया है प्रत्युत उन्होंने उन्ही तद्भव शब्दो का प्रयोग किया है जो प्राकृत से होकर आए और प्रकृतित जन-सामान्य की बोलियो म प्रचलित रहे। यथा संस्कृत का 'सूपकार' प्राकृत मे 'सूअआर' हुआ। तुलसी की कुछ कृतियो मे प्रयुक्त 'सूआर' देखकर हम भ्रम हो सकता है कि बाबाजी ने इस तद्भव शब्द को प्राकृत के अनुसार गढ़कर रख दिया है पर नही जब बघेली मे हम आज दिन भी लोगो के बीच 'सूआर महाशय' को देखते है तो हमे तुरन्त अपनी भूल मान लेनी पड़ती है।

वर्तमान खड़ी बोली का प्रादुर्भाव गोस्वामी के बहुत पहले हो चुका था जैसा कि अमीर खुसरो की पहेलियो से अनुमान किया जा सकता है। खुसरो ने 'खालिकबारी' म 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' दोनो नामो का उल्लेख किया भी है। तुलसी के समय तक इस हिन्दी का प्रचलन भी जन-सामान्य तक किसी न किसी रूप तक अवश्य पहुच गया था अन्यथा गोस्वामी अपनी रचनाओ मे खड़ी बोली के ऐसे प्रयोग न करते।

तुलसी-युग के कई शतक पूर्व से ही मुसलमानो ने देश पर अपना सिक्का जमा लिया था। उसके परिणामस्वरूप विविध प्रतिक्रियाओ म से एक यह भी थी कि सभी समकालीन आर्य भाषाएं, विशेषत [illegible] बोलियां तक भी अरबी फारसी स अछूती न रह सकी। [illegible] सम्पर्क रखने वाला था तो कहना ही क्या जनता ने भी [illegible] अरबी फारसी के शब्द अपना लिए और वे सब जनसामान्य [illegible] मे घुल-मिल गए। उनका अरबीपन और फारसीपन [illegible]।

युग की सार्वजनिक भाषा के मर्मज्ञ तुलसी भला जन-सामान्य में प्रचलित अरबी फारसी के शब्दों की उपेक्षा कब कर सकते थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में उक्त भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रचुर प्रयोग पूर्ण स्वातन्त्र्य के साथ किया। यह अवश्य है कि इनमें अधिकांश ऐसे ही शब्द हैं जिन्हें एक भाषा दूसरी भाषा से स्वभावतः ग्रहण करती है, भाषा के नाम तथा विशेषण आदि को अपनाती है।

अरबी-फारसी का यदि वर्गीकरण किया जाए तो इस प्रकार हो सकता है (क) विदेश से आई प्रचलित वस्तुओं के नाम (ख) दैनिक-जीवन से सम्बद्ध (ग) न्यायालय से सम्बद्ध (घ) सामन्त-वर्ग के व्यक्तियों के द्योतक (ङ) पाजी या अपकृष्टता-वाचक तथा (च) सब जन-समुदाय के द्वारा गृहीत विविध शब्द।

गोस्वामी ने अरबी-फारसी से गृहीत शब्दों म अपनी भाषा अवधी तथा ब्रजभाषा के अनुसार ध्वनि-परिवर्तन आदि की स्वच्छन्दतापूर्वक किया है। उन्होंने 'गरीब' को प्रचलित समझकर अपनाया पर उसके भाववाचक संज्ञा बनाने में हिन्दी व्याकरण का प्रयोग किया और 'गरीबता' लिखा न कि 'गुरबत'। इसी प्रकार 'मिस्कीन' से 'मिसकीनता' ही बनाना उचित समझा। अपनी ही भाषा की ध्वनि और व्याकरण के आधार पर उन्होंने फारसी के 'साज' को 'साज' 'साजा' 'साजी' 'साजू' 'साजे' 'सुसाज' 'कुसाज' 'साजक' आदि नाना रूपों में विभिन्न कर दिया है। यदि 'निवाज' जनता के बीच 'नवाज' रूप में रहा तो उन्होंने उसे भी अपनी आवश्यकता के अनुसार 'निवाज' 'निवाजा' 'निवाजी' 'निवाजू' 'निवाजे' ही नहीं अपितु ब्रजभाषा की क्रिया 'निवाजिबो' रूप में भी बना दिया।

नाम और विशेषण जब क्रियावाचक बना दिए जाते हैं तब उन्हें नामधातु कहते हैं। नामधातु-निर्माण की शक्ति अपनी भाषा का व्यापक जीवन है। इसकी कमी के कारण ही वर्तमान खड़ी बोली बहुत-से

कथन में सुषमा ही नहीं आई है अपितु उनका व्यवहार-कौशल उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति एवं प्रयोग-नैपुण्य भी दीप्त हो उठा है। उनकी सभी रचनाओं में प्रयुक्त समस्त मुहावरों की सूची देकर उनकी व्याख्या करते हुए प्रयोग की मनोहरता दिखाने के लिए तो स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की जा सकती है।

समाज अपने चिरन्तन व्यवहारों और अनुभवों में से कितनों को ही विशेष आवश्यक और मार्मिक समझकर अपनी चलती भाषा में लोकोक्तियों के रूप में सुरक्षित रखता है। जिस कवि का सामाजिक व्यावहारिक ज्ञान बढ़ा चढ़ा रहता है और जो जन-सामान्य की बोलचाल की भाषा में पारंगत रहता है वह समाज में प्रचलित लोकोक्तियों की भी पूरी जानकारी रखता है। लोकोक्ति के प्रयोग में चारुता तभी दृष्टिगत होती है जब वह स्वाभाविक और चलती भाषा में नगों की भांति जड़ी रहती है। कृत्रिम भाषा में वह भी बेमेल ही लगती है। गोस्वामी के द्वारा किए गए लोकोक्तियों के प्रचुर प्रयोग उनकी भाषा की स्वाभाविकता और मनोहरता ही बढ़ाते हैं।

सच्चे महाकवि की भांति गोस्वामी अपने सामयिक जन-सामान्य की भाषा से पूर्णतया अभिज्ञ थे और उनको प्राचीन परम्परा से प्राप्त भाषाओं का भी खूब परिज्ञान था। उनकी भाषा व्यापक और उनका शब्द भण्डार अपरिमेय था। स्थानाभाव के कारण आगे हम उनकी दोनों भाषाओं का वैशिष्ट्य आदि न दिखाकर केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि सांस्कृतिक समन्वय के अपने महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने युग की दोनों प्रधान भाषाओं को परिष्कृत करके उनमें यथासम्भव निखरता और सामञ्जस्य-स्थापन का कार्य भी बड़ी कुशलता से किया। दोनों भाषाओं को अपना अपना रूप सवारने और सजीवता छोड़ने के निमित्त उनमें परस्पर स्पृहणीय आदान-प्रदान कराया। इसीसे उनकी उत्कृष्ट ब्रजभाषा की रचनाओं में जैसे पूरबी प्रयोग कम प्रकार

पदों का वास्तविक मर्म विविध राग रागिनियों का विशेषज्ञ सहृदय ही पा सकता है पर इन तीनों कृतियों के छन्दों के द्वारा काव्य और संगीत का समन्वय तथा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध समझने में किसी विशेष प्रयास की अपेक्षा नहीं। गोस्वामी ने गीतावली[1] तथा विनयपत्रिका में दो विभिन्न प्रकार के छन्दों की संसृष्टि कर एक तीसरे प्रकार का नया छन्द बनाने की स्वतन्त्र रुचि दिखाई है। गीतावली में दोहा के द्वितीय और चतुर्थ चरणों में दो मात्राएं बढ़ाकर तथा विनयपत्रिका में दो मात्राएं घटाकर नये ढंग के छन्द भी निर्मित किए गए हैं।

काव्य-सौष्ठव के अभिवृद्धिकारक विविध उपादानों और साहित्य शास्त्रसम्मत प्रतिमानों का उपयोग तुलसी ने किस अंश तक किया है यह भी विचारणीय है। हमारे साहित्यशास्त्र के विकासात्मक इतिहास से अवगत होता है कि काव्य के सम्बन्ध में बड़े-बड़े आलंकारिकों ने अपने भिन्न-भिन्न मतों का समर्थन किया। फलतः अलंकार शास्त्र के अन्तर्गत भरत मुनि का रस मत, भामह और उद्भट के अलंकार मत, वामन के रीति मत (गुण मत), कुन्तक के वक्रोक्ति मत और आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वनि मत प्रभृति नाना मतों की प्रतिष्ठा हुई। तुलसी-से प्रकाण्ड महाकवि की मति उक्त सभी प्रधान आलंकारिकों के मतों का मन्थन कर चुकी थी। तभी तो उन्होंने अपने उत्कृष्ट काव्य में यथोचित रीति से इन सबका समावेश किया है। अपने अपूर्व ग्रन्थ मानस के उपक्रम में उन्होंने काव्य की प्रतिष्ठा और परीक्षा के लिए ही प्रकारान्तर से उसके हेतु, उसका लक्षण, उसके प्रयोजन और उसकी संवेदनीयता आदि का संकेत भी किया है।

अलंकार का काव्य में विशेष प्रयोग उसके महत्त्व को कम करते

---

१ गीतावली, उत्तर पद संख्या १७, छन्द ११
विनयपत्रिका पद १११ ११६
३ गीतावली, ... ११
४ विनयपत्रिका पद १ ७—११

जाता होता है। तुलसीदास गम्भीर प्रकृति के थे। उन्होंने चमत्कार चमत्कार पर विशेष दृष्टि नहीं रखी स्वाभाविक रीति से ही वे चमत्कार आ गए हैं। रहे अर्थालंकार, उनमें से कदाचित् ही कोई ऐसा हो जो हमारे कवि की रचनाओं में न मिले। सभी प्रकारों का एक-एक उदाहरण देने के लिए भी प्रस्तुत प्रबन्ध में अवकाश नहीं। अतः संक्षेप में सुभीते के साथ विचार करने के लिए हम विद्याधर, विद्यानाथ प्रभृति आलंकारिकों के द्वारा किए गए अलंकारों के वर्गीकरण को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक वर्ग के कुछ ही अलंकारों के उदाहरण देंगे।

साधर्म्यमूलक अलंकारों को देखने से पता चलता है कि उनमें से कुछ तो अभेद-प्रधान कुछ भेद प्रधान और कुछ भेदाभेद-प्रधान होते हैं। अभेद-प्रधान के अन्तर्गत रूपक परिणाम सन्देह भ्रान्तिमान उल्लेख अपह्नुति आते हैं भेद प्रधान में दीपक तुल्ययोगिता दृष्टान्त निदर्शना प्रतिवस्तूपमा सहोक्ति प्रदीप व्यतिरेक प्रभृति अलंकार परिगणनीय हैं और भेदाभेद-प्रधान अलंकारों में उपमा अनन्वय उपमेयोपमा स्मरण गिनाए जा सकते हैं।

गोस्वामी ने रूपक अलंकार पर अपना अनुपमेय अधिकार दिखाते हुए उसका प्रयोग अपनी सभी कृतियों में पग-पग पर किया है। छोटे-छोटे निरंग और परम्परित रूपकों का तो कहना ही क्या बड़े-बड़े और बेजोड़ सांग रूपक के भी एक से एक बढ़कर उदाहरण मानस गीतावली विनयपत्रिका प्रभृति प्रधान कृतियों में जगमगाते हैं। उन्होंने अपने इन लम्बे-लम्बे सांग रूपकों में भी मजाल नहीं है कि सादृश्य और साधर्म्य का आद्योपान्त निर्वाह न किया हो साथ ही उसकी पूर्ण प्रभविष्णुता न दिखाई हो। उन्होंने ऐसे रूपकों की योजना सामान्यतया गम्भीर विषयों को सरल एवं सरस रीति से हृदयंगम कराने के लिए ही की है और उसमें पूर्णतया सफल हुए हैं। उनके रूपक केवल परम्परागत उपमानों और अप्रस्तुतों की क्षुद्र परिधि में ही नहीं बंधे रहते अपितु वे विशेषतः में अपनी सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण शक्ति के सहारे प्रकृति के

व्यापारों से ही ऐसे अप्रस्तुतों का चयन करते हैं कि उनसे रूपक में प्रभावादि के अतिरिक्त बड़ी ही स्वाभाविकता आ जाती है। अत्यन्त संक्षेप में यही उनके रूपकों की विशेषताएं हैं।

गोस्वामी की अलंकार-योजना के विविध उदाहरणों को देखते हुए यह सभी स्वीकार करेंगे कि उन्होंने अलंकारों का प्रयोग कहीं भी चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं किया है प्रत्युत उन्होंने इन्हें कहीं भावोत्कर्ष का सहयोगी बनाया है तो कहीं वस्तुओं के रूप गुण क्रिया आदि की तीव्र अनुभूति का अनुभव कराने का साधन। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात और भी है। तुलसी का अलंकार-विधान उनकी साधुता से अछूता नहीं रह पाया है। इसीसे उनकी अलंकार-योजना प्राय उपदेश समन्वित ही मिलती है।

तुलसी के काव्योद्यान में सौन्दर्य के जो कमनीय कुसुम विकसित हुए हैं उनके सुमन सौरभ्य की अनुभूति के लिए पहले सौन्दर्य पर कुछ सामान्य विचार कर लेना चाहिए। इस सामान्य विचार से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि मैं पाश्चात्य अथवा सौन्दर्य-विज्ञानियों के सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्तों (ईस्थेटिक थ्योरीज़) का पोस्टमार्टम करूं और सौन्दर्य का आध्यात्मिक रहस्य बताऊं। ऐसा न करने पर भी सौन्दर्य का स्वरूप निरूपण तो करना ही होगा। जैसे हम कालिमा की कल्पना बिना वस्तु के नहीं कर सकते वैसे ही बिना सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य की कल्पना करना असम्भव है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं है। जड़ अथवा चेतन जगत् की कुछ ऐसी वस्तुएं हैं जिनके साक्षात्कारमात्र से हमारा मन उनमें ऐसा रम जाता है कि हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी मन्मयता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूप रंग की वस्तुएं ऐसी भी होती हैं जिनकी प्रतीति या भावना हमारे मन में कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मान सिक आपत्ति-सी जान पड़ती है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से

तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी। ...किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के ज्ञान का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई सौन्दर्य की अनुभूति कही जायगी। जिस प्रकार की रूप-रेखा या वर्ण-विन्यास से किसीकी तदाकार परिणति होती है उसी प्रकार की रूप-रेखा या वर्ण-विन्यास उसके लिए सुन्दर है। मनुष्यता की सामान्य भूमि पर पहुँची हुई जातियों में सौन्दर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। भेद केवल अनुभूति की मात्रा में पाया जाता है। न सुन्दर का कोई एक बारगी कुरूप कहता है और न बिलकुल कुरूप को सुन्दर।

उपर्युक्त उद्धरण एक प्रकार से सौन्दर्यानुभूति का स्पष्टीकरण कर देता है, पर सौन्दर्य का वह विस्तृत स्वरूप जिसे हम तुलसी की रचनाओं में इंगित करना चाहते हैं पूर्ण रूप से प्रकाशित करने लिए सौन्दर्य का वर्गीकरण करना अधिक सुन्दर होगा। हम कह चुके हैं कि सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई अन्य पदार्थ नहीं है। अतः सुन्दर वस्तुओं के आधार पर सौन्दर्य के दो वर्ग होंगे (१) प्रकृति-सौन्दर्य (२) प्राणि-सौन्दर्य।

सौन्दर्य के इस द्विविध क्षेत्रों पर दृष्टि डालते ही दोनों के भेद प्रतीत होंगे। प्रकृति-सौन्दर्य के अन्तर्गत। (१) रूप-सौन्दर्य (२) गुण-सौन्दर्य (३) व्यापार-सौन्दर्य आदि और प्राणि-सौन्दर्य में (१) रूप-सौन्दर्य (२) गुण-सौन्दर्य (३) व्यापार-सौन्दर्य (४) व्यवहार-सौन्दर्य (५) शील-सौन्दर्य आदि।

निस्सन्देह मनुष्य चेतनात्मक प्राणी होने के कारण चेतनजगत् के सौंदर्य का विशेष रसज्ञ होता है पर यह भी निश्चित है कि वह जड़ प्रकृति के विविध विलासों पर भी मुग्ध रहता है। उसका हृदय कहीं पल्लव-कुसुमित पुष्प-हास में कहीं निर्झरों के कलकल नाद में कहीं पत्तियों की कतारों में कहीं सिन्दूराभ सान्ध्य दिगन्चल के हिरण्य मेखला-मण्डित घनखण्ड में

कहीं तुषाराावृत तुंगशिखर गिरि पर पड़ी आभा से निर्मित इन्द्रधनुष में कहीं सघन और स्निग्ध हरीतिमा से आच्छन्न अछोर मैदानों में लहलहाते हुए खेतों में तो कहीं महार्णव की उत्ताल तरंगों में जा फँसता है। क्यों? उत्तर है—प्रकृति-सौन्दर्य से आकृष्ट होकर। इसी प्रकार प्राणि-सौंदर्य भी उसे केवल आकर्षित ही नहीं करता अनुभूति-साम्य रुचि-साम्य विवेक-साम्य और भाव-समष्टि-साम्य से आप्यायित भी करता है।

डॉ० विमलकुमार

६

तुलसी का समन्वयवाद

तुलसी एक समन्वयवादी कवि थे। भक्ति-काल के प्रारम्भ होने में भी मूल कारण यही था कि हिन्दू-मुस्लिम भावनाओं का यथासम्भव समन्वय किया जाए जिससे पारस्परिक विरोध का ह्रास हो। कबीर आदि के द्वारा निर्गुण ब्रह्म की आराधना तीर्थ-स्थान आदि का खण्डन एवं अन्य आडम्बरपूर्ण एवं विरक्त भावोत्पादक बाह्याचारों का विरोध आदि बातों का प्रचार इसीलिए हुआ था कि विरोध का नाश हो और समन्वय का प्रसार हो। परन्तु तुलसीदास के अतिरिक्त इस काल के जिन संत कवियों ने सामञ्जस्यपरक वातावरण की उद्भावना का स्वप्न देखा और उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया वे कुछ अभिनिवेशवश भावावेश में बह गए और 'यह ऐसा ही है' के पक्षपातपूर्ण विचार से अभिभूत रहे। तुलसीदास महान् उदार पंडित तत्ववेत्ता कालज्ञ और प्रत्युत्पन्नमति थे। उन्होंने प्रायः निखिल विचारधाराओं का जिस विलक्षणता और विचक्षणता से समन्वय किया है वह दर्शनीय है। ज्ञानमार्गी सन्तों की भांति न वे कटु हुए हैं और न प्रेममार्गी सन्तों की भांति मौन। उन्होंने प्रायः सभी विरोधपूर्ण भावनाओं का अध्ययन किया और यथासम्भव उनका समन्वय किया। उन्होंने न किसीकी भर्त्सना की है, न किसीको तर्जना दी है और न उनमें अनुनयपूर्ण अर्चना ही है। उनका समन्वय तर्क प्रमाण युक्ति और इनसे भी बढ़कर विश्वास पर आश्रित है। इस

समन्वय के लिए उन्होंने राजनैतिक सामाजिक धार्मिक पारिवारिक आध्यात्मिक आचार-विचार सम्बन्धी एवं भाषा-विषयक किसी भी क्षेत्र को नहीं छोड़ा ।

तुलसीदास जिस समय हुए, उस समय मुगल-सम्राट अकबर एवं जहाँगीर का शासन काल था । ये दोनों ही बादशाह उदार थे मुसलमान होते हुए भी ये मुख्यतः हिन्दू विरोधी नहीं थे । अकबर के अन्तःपुर में हिन्दू रानियाँ थीं सलीम (जहाँगीर) स्वयं हिन्दू रानी की सन्तान था । हाँ इससे पूर्व अन्य सुलतान वंशों के शासन में हिन्दुओं पर पर्याप्त अत्याचार हो चुका था और इनके समय में भी अन्य मुस्लिम सूबेदार एवं अधिकारी अत्याचार करते ही थे । यद्यपि इन सम्राटों ने हिन्दुओं को उच्च पद दिए थे जजिया भी न लिया था तथा धार्मिक संरक्षण भी दिया था तथापि यत्र-तत्र धर्मस्थानों की भ्रष्टता नर-नारियों का अपमान लोगों का वध और बलात्कारों का पोषण आदि अनाचारपूर्ण बातें होती ही थीं । इसके अतिरिक्त हिन्दुओं में भी अनेक सामाजिक रीतियाँ ऐसी थीं जो पारस्परिक या मुसलमानों से विरोध का कारण थीं । ज्ञान भक्ति एवं कर्म का विरोध भी चल ही रहा था शैव और वैष्णवों का विरोध भी पराकाष्ठा पर था तथा सगुण-निर्गुण भी कलह का कारण बना हुआ था । तुलसीदास ने इस वातावरण का प्रत्यक्षतः परिचय प्राप्त किया और अपनी दूरदर्शी अन्तर्दृष्टि से समुचित समाधान कर उसे भाषाबद्ध कर डाला । अपनी प्रखर एवं निर्मल मेधा की शान पर चढ़ाकर उसे ऐसा रूप दिया कि जिधर से देखो उधर से ही और जो देखे उसे ही वह सब कुछ निखर दीख पड़ता है । उस समय भी ऐसा ही हुआ होगा ।

अब हम तुलसी की समन्वय-सरणी पर एक विहंगम दृष्टिपात करते हैं ।

लोक-मंगलकारी भावना का समन्वय

वेदों में एकेश्वरवाद की प्रधानता थी । उसमें एक ईश्वर ही सर्वोपरि था तथा ईश्वर के अतिरिक्त स्तुत्य अनेक अग्नि इन्द्र वरुण मरुत्, रु

बृहस्पति पूषा यम और प्रजापति आदि देव उस ईश्वर की ही विविध शक्ति के रूप में थे जो सृष्टि के संचालन में तत्पर रहते थे यथा इन्द्र नभस्य का स्वामी और वरुण जल का अधिपति था।

ऋग्वेद में लिखा है कि उसी एक ईश्वर को इन्द्रादि कहते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहु॥

आरण्यक एवं औपनिषदिक काल में इनमें से अनेक देवों का महत्व घट गया। बाह्य यज्ञादि कर्म आत्मयज्ञ में और देव-स्तुतियाँ ध्यान-जपादि में परिवर्तित हो गईं। केवल कुछ ही देवता ऐसे थे जिनकी कुछ भिन्न रूप में सत्ता बनी रही। यह समय कर्मकाण्ड का न था ज्ञान-वैराग्य का था अतः रुद्र शिव एवं प्रजापति ने ब्रह्मा का रूप धारण कर लिया। इसी ब्रह्मा से सम्बन्ध ब्रह्म बना। इस प्रकार ये केवल ब्रह्मज्ञान के ही आलम्बन रह गए। ब्रह्म का अद्वितीय रूप उपनिषदों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

इसके पश्चात् पौराणिक काल में देवों का महत्व परिवर्तित हो गया। वैदिक काल में देवों की ईश्वर से पृथक् सत्ता नहीं थी अब वे पृथक् रूप से परिगणित होने लगे जिनमें यथानुरूपी शक्ति थी जिससे परिणामस्वरूप वे वरदान भी दे सकते थे और अवदान भी।

इन देवों में ब्रह्मा विष्णु और महेश की शक्ति सर्वोपरि थी। ब्रह्मा सृष्टिकर्ता थे विष्णु पालक और महेश संहर्ता। ब्रह्मा इन सब में ज्येष्ठ थे अतः वे देवों के पितामह कहलाए।

विष्णु और महेश को लेकर इस काल में दो सम्प्रदाय हुए, जिनमें से प्रत्येक अपने इष्टदेव का महत्व दूसरे से बढ़कर मानता था। जो शिव के अनुयायी थे वे शैव कहलाए और जो विष्णु के उपासक थे वे वैष्णव। विष्णु वैदिक काल में इसी नाम से पुकारे जाते थे परन्तु शिव के अनेक नाम धारण किए, यथा—ऋग्वेद में रुद्र यजुर्वेद में ईशान और महादेव उपनिषदों में शिव और पुराणों में शिव महेश महादेव आदि।

शैव-वैष्णवों ने स्वीय आराध्य के गुण-माहात्म्य जिन पुराणों की रचना की। शिवपुराण आदि पुराणों में शिव को विष्णु से ऊंचा माना गया। ये कैलास पर निवास करते हैं जहाँ भूत-पिशाचादि गण पहरा देते हैं। ये भवानी-पति हैं गणेश और कार्तिकेय इनके दो पुत्र हैं। गणेश ही गणपति हैं। ये शिव शाश्वत हैं, परन्तु भक्त-कल्याणार्थ भैरवावतार, वीरभद्रावतार और नटावतार आदि रूप में अवतरित भी होते हैं। ये सपत्नीक होते हुए भी योगिराज हैं दिगम्बर हैं। ये भभूत रमाते हैं और जटाजूट धारण करते हैं। व्याघ्रचर्म इनका परिधान है सर्प माला है तथा ये त्रिनेत्रधारी हैं। वृषभ इनका वाहन है।

वैष्णवों ने विष्णु को इनसे बढ़कर कहा। वेदों में इनका पर्याप्त महत्त्व था। ये सविता के प्रतीक थे और आहुत देवों में इनका स्थान बहुत ऊंचा था। परन्तु आरण्यक और उपनिषद-काल में इनका कोई महत्त्व न रहा। पौराणिक काल में पुनः इनका महत्त्व हुआ महाभारत एवं विष्णु पुराण इसके साक्षी हैं। विष्णु का निवास-स्थान वैकुण्ठ बत-लाया गया। ये भी सपत्नीक हैं, लक्ष्मी इनकी स्त्री का नाम है। ये हिरण्यगर्भ और नारायण हैं। इनका आचरण सृष्टि की उत्पत्ति और लोक-प्रलय का कारण होता है। ये अवतार धारण करते हैं। महाभारत के समय में इनकी अत्यधिक प्रतिष्ठा हुई। उस समय इनका धर्म नारायणीय धर्म से प्रसिद्ध हुआ तदनन्तर श्रीकृष्ण के पश्चात् वासुदेवक धर्म से और पुनः भागवत धर्म से प्रख्यात हुआ।

तुलसीदास ने भी उपर्युक्त देवों की सत्ता पौराणिक आधार पर ही मानी है। इन्होंने सर्वाधिक इसी रूप में विष्णु और शिव को ही महत्त्व दिया परन्तु पौराणिक विचार को आधार बनाकर नहीं। आठवीं शताब्दी स्वामी शंकराचार्य जी के समय से शिवोपासना की ऐसी वृद्धि हुई कि वैष्णव सम्प्रदाय उत्तरी भारत में नष्टप्राय-सा हो गया। पुनः स्वामी रामानुजाचार्य १२वीं शताब्दी में दक्षिण से इसे उत्तरी भारत में प्रत्या-पित करने आए। तब से यह पुनः पनपा परन्तु विराग पर्याप्त रहा।

तुलसीदास ने भी इस विरोध को देखा और इसे समूल नष्ट करने के लिए भरसक प्रयत्न किया। यद्यपि वे निम्न प्रकार से राम को ब्रह्मा विष्णु एवं महेश से भी बढ़कर एवं उनके नियामक बतलाते हैं—

जग पेखन तुम देखनिहारे। बिधि हरि सम्भु नचावनिहारे॥

—रामचरितमानस

हरिहि हरिता बिधिहि बिधिता सिवहि सिवता जेहि दई।
सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई॥

—विनयपत्रिका

तथापि उन्होंने शिव को पर्याप्त महत्त्व दिया। अधिकांश ग्रन्थों के प्रारम्भ में शिव की स्तुति की गई है। रामचरितमानस एवं विनय पत्रिका जैसे महान् ग्रन्थों के प्रारम्भ में वे शिवपुत्र गणेश की ही स्तुति करते हैं पुनः शिव की स्तुति की गई है। राम-सीता की स्तुति तो इनके अनन्तर हुई है। मानस की कथा के कहने वालों में शिवजी भी हैं। पार्वती-मंगल तो उनके विवाह पर ही लिखा गया है। मानस में अनेक स्थलों पर हरि-हर की पारस्परिक प्रशंसा की गई है। बालकाण्ड में शिवजी कहते हैं—

सोइ मम इष्ट देव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥

उधर राम भी शंकर को बड़ा महत्त्व देते हैं—

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा॥

o o o

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥

इसके अतिरिक्त सीता के वियोग में राम को और राम के वियोग में सीता को क्रमशः शिव और पार्वती ढाढस बंधाते हैं। शिवधनु के भंग के समय पहले राम उसे नमन करते हैं तथा लंका में जाने से पूर्व वे शिव मूर्ति की स्थापना करते हैं।

तुलसीदास ने मानस में याज्ञवल्क्य एवं भरद्वाज जैसे तत्त्वदर्शियों से

इस प्रकार गीता ने समन्वय तो किया परन्तु विरोध किसी न किसी रूप में चलता ही रहा। बौद्ध और जैनों ने कर्मकाण्ड का घोर विरोध किया। आठवीं शताब्दी में कर्मकाण्ड एवं सगुणोपासना को निष्फल बतलाने के लिए स्वामी शंकराचार्य ने ज्ञान का माहात्म्य प्रतिपादित किया और कुमारिल भट्ट जैसे कर्मकाण्डियों को ललकारा। कर्मकाण्ड भक्ति के ही साधन हैं जो विविध रूप में उसकी उपासना में सम्बल देते हैं। जब वैष्णव-प्रवरों ने इस प्रकार कर्म और भक्ति का खंडन देखा तो उनमें प्रतिक्रिया हुई, जिसके फलस्वरूप श्री रामानुजाचार्य आदि ने भक्ति का प्रचार किया।

सर्वप्रथम भक्ति का यह पुनरुत्थान दक्षिण में हुआ। रामानुजाचार्य ने श्री सम्प्रदाय की स्थापना कर विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया पुन मध्वाचार्य विष्णुस्वामी और निम्बार्काचार्य ने क्रमश ब्रह्म रुद्र और सनकादि सम्प्रदाय स्थापित की और द्वैत शुद्धाद्वैत एव द्वैताद्वैत सिद्धान्तों का प्रचार किया।

उस समय भक्ति के भी दो रूप थे—एक प्रेम प्रधान और दूसरी ज्ञान-प्रधान। भागवत के आधार पर प्रेम प्रधान भक्ति को आलवार संत प्रचारित करते थे और ज्ञान प्रधान को ये संत आचार्य। इन्होंने भक्ति को दार्शनिक पद्धति पर विवेचित किया परन्तु दक्षिण की देशभाषा में प्रचार कर संस्कृत एवं तामिल आदि भाषाओं के भावों का समन्वय कर दिया।

भक्ति के इस पुनरुत्थान से पूर्व शक्ति-पूजा का भी बोलबाला था। पूजक शाक्त कहलाते थे। लक्ष्मी और सरस्वती का उल्लेख वेदों में भी हुआ है। आगे चलकर लक्ष्मी विष्णु की और सरस्वती ब्रह्मा की शक्ति-रूप में मानी गईं। वैसे ही आगे शिव हुए, उनकी भी शक्ति की जिसका नाम पार्वती हुआ जो भवानी चण्डी काली और गौरी आदि नामों से प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम दक्षिण में ही शिव और पार्वती का एक संयुक्त रूप अर्धनारीनटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ और शक्ति-पूजा

प्रारम्भ हुई। कुछ लोगों का कथन है कि यह द्राविड़ों से आर्यों में आई परन्तु वास्तव में इसका यह रूप महायानी बौद्धों की तान्त्रिक शाखा मंत्रयान की देन था क्योंकि शाक्त भी तान्त्रिक क्रियाओं द्वारा ही भक्ति करते हैं।

इस प्रकार यह भी भक्ति का एक समन्वित रूप था परन्तु इसकी भी प्रतिक्रिया हुई। प्रथम वेदान्तियों ने और पुनः भागवतों ने इसका विरोध किया।

मन्त्रयानी सिद्धों में से उद्भूत वज्रयानी एवं सहजयानी सिद्धों की व्यभिचारपूर्ण साधना गुप्त रूप में चलती थी। यह भी तन्त्र-मन्त्र पूर्ण ही थी। इन सिद्धों ने हठयोग की कुछ साधना को ग्रहण कर समन्वय की ओर पग तो बढ़ाए परन्तु अनाचारी होने के कारण अधिक बढ़ न सके। निदान गोरखपा (गोरखनाथ) ने पृथक् संयमपूर्ण साधना-मार्ग निकाला और नाथपन्थ की नींव डाली। इन्होंने हठयोग को अपनाया परन्तु भक्ति को बहिष्कृत कर दिया अतः वैष्णवों की सरस भक्ति के समक्ष उनका मार्ग प्रसारित न हो सका।

सिद्ध और नाथों ने वर्णाश्रम धर्म को कोई महत्त्व नहीं दिया यही कारण है कि अधिकांश सिद्ध और नाथ निम्न जाति एवं वर्ग से सम्बन्ध रखते थे। जब वैष्णव-प्रवर रामानंद ने वैष्णव धर्म का प्रचार किया तो उन्होंने भी उपासना के क्षेत्र में स्पृश्य और अस्पृश्य के भेद पर बल नहीं दिया इसीलिए हम उनके शिष्यों में जुलाहे कबीर, सेना नाई और चमार रैदास को भी देखते हैं। भविष्यपुराण में तो यहाँ तक लिखा है कि उन्होंने बलात् विधर्मी बनाए गए मनुष्यों को भी पुनः हिंदू धर्म में सम्मिलित कर लिया और उन्हें 'संयोगी' नाम दिया—

म्लेच्छास्ते वैष्णवाश्चासन् रामानन्दप्रभावतः।
संयोगिनश्च ते ज्ञेया अयोध्यायां बभूविरे॥

रामानंद जी के शिष्यों में कबीर एक ऐसे संत हुए जिन्होंने ज्ञान भक्ति, वर्ण-जाति समाज धर्म एवं और भी विषयों में समन्वय किया।

यहाँ तक कि इन्होंने सांख्य योग वेदांत सूफीमत एवं भागवत सिद्धांतों का बहुत कुछ समन्वय किया परन्तु वे ज्ञान-भक्ति के साथ कर्म का समन्वय न कर सके। तदनन्तर सभी निर्गुणिए सन्तों ने ऐसा ही किया। सूफी सन्तों ने भी यही मार्ग अपनाया। इन दोनों में इतना अंतर अवश्य रहा कि उन्होंने ज्ञान को प्रधानता दी और इन्होंने प्रेम को। वेदान्तियों और वैष्णवों में जो निर्गुण-सगुण का विवाद चला आ रहा था इन दोनों ने उसे यथासाध्य दूर कर निर्गुण ब्रह्म में सगुणता का आरोप किया और उसे भक्ति के योग्य बनाया। इसपर यह वैष्णव प्रभाव ही था। कबीर आदि ने सांख्य योग वेदांत एवं वैष्णवी भावना से बहुत कुछ लिया और सूफी भी पीछे न रहे परन्तु सूफियों ने मुसलमान होते हुए भी प्रायः हिंदू कहानियाँ लेकर प्रबंध काव्य लिखे। निर्गुणिए कुछ पक्षपातपूर्ण एवं कटु भी थे परन्तु सूफी कहीं कटु नहीं रहे। वे अपने सिद्धान्तों का विवेचन तो करते हैं परन्तु आक्षेप या अविवेकपूर्वक भर्त्सना नहीं करते।

जहाँ राम भक्तों ने उक्त प्रकार से अपने प्रभाव को विस्तृत कर भक्ति का प्रचार किया वहाँ कृष्ण भक्तों ने भी इसमें बहुत हाथ बटाया। श्री वल्लभाचार्य एवं उनके शिष्यों ने उत्तरी भारत में कृष्णोपासना का प्रचार किया। बंगाल में श्री चैतन्य प्रभु आदि ने भक्ति की सरस धार बहाई। कृष्ण भक्तों की इस प्रेम-लक्षणा भक्ति ने भक्ति का क्षेत्र तो विस्तृत किया परन्तु वे एकान्त ज्ञान की महत्ता को न सह सके।

इस प्रकार ज्ञान भक्ति और कर्म का दीर्घ संघर्ष चलता हुआ तुलसी के समय तक आया। तुलसी ने—विशाल दृष्टि तुलसी ने—इस समस्त विवादग्रस्त वातावरण पर दृष्टिपात किया और अपने उदार हृदय से इस विरोध को समाप्त करने का प्रयत्न किया। यद्यपि उन्होंने भक्ति को सर्वोपरि माना तथापि ज्ञान और कर्म की निन्दा नहीं की। तुलसी ने निर्गुण-सगुण एवं द्वैत-अद्वैत का विरोध शान्त करने के लिए राम को निर्गुण-सगुण रूप में माना है तथा विशिष्टाद्वैत को स्वीकार किया है अतः ज्ञान का महत्त्व स्वीकृत करना परम्परावादी का और कर्म उपासना

के ही उपकरण हैं। ज्ञान और भक्ति की उन्होंने यत्र-तत्र समता भी स्थापित की है यथा—

ब्रह्म निरूपन धरम बिधि बरनहि तत्व बिभाग।
कहहिं भगति भगवंत कै सजुत ग्यान बिराग॥

इसमे ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्ति का कथन है।

इसी प्रकार मानस मे एक स्थान पर माग मे जाते हुए रानी सहित राजा मनु की उत्प्रेक्षा सशरीर ज्ञान और भक्ति से की गई है—

पंथ जात सोहहिं मति धीरा। ग्यान भगति जनु धरें सरीरा॥

निम्न चौपाइयो मे भक्ति की गंगा ज्ञान की सरस्वती और कर्म की यमुना के समन्वित रूप प्रयाग के रूपक से वे अपनी तद्विषयक समन्वय वादिता को उद्घोषित करते हैं—

राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥
बिधि निषेध मय कलिमल हरनी। करम कथा रबिनंदिनि बरनी॥

इसी प्रकार वे विरति और विवेक से युक्त हरि-भक्ति को ही श्रुति सम्मत कहते हैं—

श्रुति संमत हरि भगति पथ संजुत बिरति बिबेक।

इसी प्रकार हम अन्य क्षेत्रो मे भी समन्वय देखते हैं। तुलसी ने राजनैतिक विषमता को देखा सामाजिक एव पारिवारिक कटुताओ को निहारा धार्मिक एवं नैतिक अधःपतन पर भी दृष्टि डाली तथा साहित्यिक क्षेत्र मे भी भाषा एवं विचार-विषयक भेद का अनुभव किया और पुन उनका उचित समाधानपूर्वक प्रतिविधान भी किया। उन्होंने अपनी कृतियो मे राजा एव प्रजा के कर्तव्य निर्धारित कर राजनैतिक विषमता को माता पिता भाई, पुत्र स्त्री स्वामी और अनुचर आदि की कर्तव्य मर्यादा बतलाकर पारिवारिक एवं सामाजिक कटुता को तथा इसी कर्तव्य के द्वारा नैतिक एवं धार्मिक अधःपतन को दूर करने का प्रयत्न किया। इसके साथ-साथ शूद्रो व्याधो और यहा तक कि वानरो भालुओ एव राक्षसों से भी राम का प्रेमालिंगन आदि सद्व्यवहार तुलसीदास की निम्न

वर्गों के प्रति सहानुभूति को ही व्यंजित करता है। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए राम के इन कार्यों से इस विषय में अपनी उदारता और समन्वय-भावना को ही प्रदर्शित किया है। वे वे भी स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा में और रामानन्द की उपासना के क्षेत्र में वर्णों को महत्त्व नहीं देते थे।

भाषा के क्षेत्र में भी तत्कालीन प्रमुख ब्रज एवं अवधी दोनों ही भाषाओं में ग्रन्थों का निर्माण कर उन्होंने समन्वय की भावना का परिचय दिया। उन्होंने इसी प्रकार प्राप्त सभी शैलियों में रचना की। छप्पयपद्धति का प्रयोग उन्होंने मानस आदि में किया, पद-पद्धति में विनयपत्रिका, गीतावली और कृष्णगीतावली लिखी, दोहा-पद्धति में दोहावली और चौपाई-दोहा-पद्धति में मानस का निर्माण किया, कवित्त-सवैया-पद्धति में कवितावली और बरवै-पद्धति में बरवै-रामायण की रचना की। इसके अतिरिक्त तत्कालीन एवं तद्देशीय लोकगीत सोहर का भी प्रयोग कर रामलला-नहछू लिखा।

इस प्रकार तुलसी ने समन्वय की भावना को ही सर्वोपरि रखा क्योंकि किसी भी विषय में विषमता, कटुता, पतन एवं भेद को दूर करके सम, मधुर, सर्वप्रिय और गौरवपूर्ण रूप देना ही समन्वय कहलाता है।

मोहन राकेश एम ए

१०

तुलसी आपेक्षिक मूल्य

किसी भी कवि के आपेक्षिक मूल्य का निर्णय करने के लिए उस सारी काव्य-परम्परा पर दृष्टिपात करना होता है जिसके अन्तर्गत उसके कृतित्व को स्थान प्राप्त है। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती तथा परवर्ती काव्य परम्पराओं के सन्दर्भ में भी उसके मूल्य पर विचार करना अभीप्सित होता है। केवल कुछ कवियों की रचनाओं के चुने हुए उदाहरण पास-पास रखकर आपेक्षिक मूल्य का निर्णय नहीं किया जा सकता। बहुत बार फुटकल उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कुछ कवियों के काव्य-गुण के न्यूनाधिक्य की स्थापना देने और इस तरह उनके ऐतिहासिक मूल्य का निर्णय करने के प्रयत्न किए जाते हैं। परन्तु उदाहरणों का चयन चयन करने वाले की वैयक्तिक दृष्टि के अतिरिक्त और किसी तथ्य को स्थापित नहीं करता। इस तरह के निर्णय आलोचक की वैयक्तिक रुचि या किसी कवि के प्रति उसके पूर्वाग्रह को ही प्रमाणित करते हैं। आपेक्षिक मूल्य का निर्णय करने के लिए जिस सम्मिलित तथा तटस्थ दृष्टि की अपेक्षा है, वह कई बार वैयक्तिक और कई बार सैद्धान्तिक कारणों से नहीं रह पाती। इस तरह के मूल्यांकन में किसी न किसी अंश में भावुकता अवश्य आ जाती है। कहीं यह भावुकता कवि के व्यक्तित्व के प्रति रहती है, उसकी काव्य-वस्तु के प्रति, कहीं भावना के प्रति और कहीं शैली के प्रति। तुलसी और बिहारी की आलोचना करते हुए बहुत बार आलोचकों ने ऐसी भावुकता का आश्रय लिया है।

कवियों के आपेक्षिक महत्त्व का प्रश्न कई बार आलोचकों में पारस्परिक स्पर्द्धा का प्रश्न बन जाता है। एक या दूसरे कवि के महत्त्व की स्थापना के लिए एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर उद्घोषणाएं की जाने लगती हैं जैसे प्रश्न कवि के मान का न होकर आलोचक के अपने मान का हो। इस तरह की उद्घोषणाएं इसी तरह के विरोध को जन्म देती हैं और आलोचना प्रतिवाद के दोष से दूषित होकर अपने कर्तव्य से हट जाती है।

तुलसी के आपेक्षिक मूल्य के सम्बन्ध में भी कई बार अतिवादी उद्घोषणाएं की गई हैं। परन्तु तुलसी के काव्य की विशेषताओं का दिग्दर्शन करा देने से स्वतः ही उनके आपेक्षिक मूल्य का निर्णय नहीं हो जाता। इसके लिए दो बातों को दृष्टि में रखना अपेक्षित है। एक तो यह कि जिस विशिष्ट काव्य-परम्परा के अन्तर्गत उनके कृतित्व को स्थान प्राप्त है उसकी उपलब्धियां क्या हैं और आपेक्षिक दृष्टि से उनकी रचनाओं में उन उपलब्धियों का समावेश कहां तक हो पाया है। दूसरे यह कि उनके अतिरिक्त यदि कोई अन्य काव्य-परम्परा विकसित हुई है तो उसके प्रतिनिधि कृतित्व के परिपार्श्व में उनके कृतित्व का मूल्य क्या है।

ऐतिहासिक काल-विभाजन को दृष्टि में रखें तो हिन्दी काव्य के उदयकाल से रीतिकाल के अन्त तक तीन अलग-अलग प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं परन्तु समन्वित दृष्टि से देखने पर इन सब के अन्तर्गत एक ही विशिष्ट काव्य-परम्परा का निर्वाह परिलक्षित होता है। यद्यपि चन्द से बिहारी तक विभिन्न कवियों की भाव-भूमि और काव्य-दृष्टि में पर्याप्त अन्तर रहा है और इसमें सन्देह नहीं कि वीरगाथा-काव्य की वस्तु-परकता से हटकर भक्ति-काव्य में भाव-परकता और रीति-काव्य में रूप परकता की ओर कवियों की अधिक प्रवृत्ति हुई, फिर भी यह स्पष्ट है कि इन सब धाराओं में कवियों की जीवन कल्पना और अभिव्यक्ति-पद्धति में एक निश्चित सामान्यता बनी रही है। जहां एक ओर इन कवियों की जीवन-कल्पना में जनसाधारण के प्रति मोह का विशेष परिचय मिलता है वहां धर्म और अर्थ के कृत्रिम बन्धनों से मुक्त होने का प्रयत्न इन्होंने

बहुत कम किया है। कबीर जैसे कवि के काव्य में भी जिन्होंने अपनी वाणी को साधारण जन जीवन के सांचे में ढाल दिया था यह असाधारण का मोह कुछ कम नहीं है। कबीर के प्रतिपाद्य को दृष्टि में रखें तो यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है। मनुष्य की साधारणता से प्यार करते हुए भी वे उसे एक असाधारण भूमि की ओर ही प्रवृत्त करना चाहते हैं। उनकी रहस्य-भावना और अनुभवमय प्रिय की कल्पना ने उन्हें परंपरा से बाहर नहीं जाने दिया। इस सारी परंपरा में साधारण व्यक्ति या साधारण जीवन का वातावरण किसी भी कवि के लिए प्रतिपाद्य नहीं बन सका। सूर अपने विशिष्ट क्षेत्र में अन्य कवियों की अपेक्षा साधारण मानवमन के अधिक निकट पहुंच सके हैं, परन्तु अपनी परम्परा के संस्कारों से मुक्त होकर नहीं। एक बालक के रूप में साधारण आचरण करते हुए भी उनके बालकृष्ण सर्वत्र साधारण की भूमि से ऊपर उठ जाते रहे हैं और नन्द-यशोदा तथा गोप-गोपियों की भी वह साधारण की भूमि कभी नहीं रही। जिन नायक-नायिकाओं का इस परम्परा के अन्तर्गत चित्रण हुआ है उनकी कल्पना लगभग सब कवियों के लिए समान रही है। वीरगाथा से भक्तिगाथा और भक्तिगाथा से साधारण विलासगाथा की ओर बढ़ते हुए इस परम्परा के अन्तर्गत नायक-नायिका के स्वरूप और उस स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाले उपादानों में अन्तर नहीं आया। इन सब के सामने आलम्बन और उद्दीपन विभावों का एक निश्चित स्वरूप रहा है। विभिन्न विचारधाराओं द्वारा अनुप्राणित होने और कबीर और तुलसी की तरह कहीं-कहीं परस्पर-विरोधी दृष्टियों का समर्थन करने पर भी व्यक्ति और उसके वातावरण के सम्बन्ध में इन सब कवियों की दृष्टि में एक निश्चित साम्य दिखाई देता है। इन कवियों के काव्यक्षेत्र में अन्तर आया परन्तु क्षितिज वही रहा। बिन्दु बदले परन्तु विस्तार की रेखा एक ही रही।

जहां तक अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है उसे इस परम्परा के अन्तर्गत संस्कृत काव्य की रूढ़ियों ने प्रभावित किए रखा है। जहां भावना

क्षमता भी यहाँ अभिव्यक्ति की क्रिया गौण अवश्य हो गई परन्तु अथवा नये संकेतों की उपलब्धि फिर भी नहीं हुई। वाल्मीकि से जयदेव तक अभिव्यक्ति की जो मर्यादाएं निश्चित हुई थीं उन्हीं की परिधि में रहकर रचना की जाती रही। दूसरी ओर भावना और वस्तु के क्षेत्र में सामन्तवादी जीवन-दृष्टि का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। भारतीय जीवन में सामन्तवादी व्यवस्था का प्रभाव अन्य कई देशों की अपेक्षा अधिक समय तक रहा है। आज से कुछ वर्ष पूर्व तक देश के कई छोटे-छोटे खण्डों में यह व्यवस्था ज्यों की त्यों चल रही थी। भारतेन्दु के काल तक हमारी काव्य-परम्परा उस व्यवस्था के संस्कारों से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील नहीं हुई। सामन्तवादी जीवन-दृष्टि ने ही शताब्दियों तक हमारी काव्य चेतना के लिए जनसाधारण को जीवन का मानदण्ड बनाए रखा। हर प्रदेश और काल की काव्य चेतना तब तक अपने आसपास की व्यवस्था के मानदण्डों को स्वीकार किए चलती है जब तक कि आसपास के जीवन में ही आमूल क्रान्ति की भावना जन्म नहीं लेती। हिन्दी काव्य के उदयकाल से रीतिकाल के अन्त तक अनेकानेक राजनीतिक परिवर्तन होने पर भी ऐसी आमूल क्रान्ति का अवसर नहीं आया। इसलिए इस सारी परम्परा में एक से संस्कार बने रहे। इसीलिए चरित्र-नायक के गौरव को प्रतिष्ठित करने के लिए उसमें प्रायः सभी उदात्त गुणों का आरोप, वस्तु-व्यापारादि के वर्णन में अतिशयोक्ति, लोकोत्तरता की भावना, अप्राकृतिक बिम्ब-विधान तथा ऐसी बहुत-सी बातें इस परम्परा के अन्तर्गत सामान्य दिखाई देती हैं। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि भक्तिकाल की प्रबन्ध और मुक्तक-परम्परा वीरगाथाकाल के पहले से चली आ रही काव्य-परम्परा का ही विकसित रूप है और रीतिकाल की मुक्तक-परम्परा उर्दू और फारसी की काव्यधारा से प्रभावित होकर भी भक्तिकालीन काव्य-परम्परा का ही परिवर्तित रूप है। यदि पद्मावत की प्रतीकात्मक व्याख्या की बात थोड़ी देर के लिए भुला दी जाए, और राम के परब्रह्मत्व को भी क्षणभर के लिए विस्मृत

कर दिया जाए, तो नायकों के औदार्य, शौर्य और सौंदर्य आदि के वर्णन की दृष्टि से तथा खल-नायकों के पर-स्त्री प्रेम, कुपथ आचरण और उच्छृंखल व्यवहार आदि के निरूपण की दृष्टि से चन्द, जायसी और तुलसी एक ही विशिष्ट परम्परा का निर्वाह करते प्रतीत होते हैं। पृथ्वी राज और मुहम्मद गोरी हों, राम और रावण हों या शिवाजी और औरंगजेब, इस परम्परा के कवियों को हम प्रायः एक से चरित्र-वैषम्य की सृष्टि करते देखते हैं। युद्ध या प्रेम के प्रसंगों का चित्रण करने के लिए इन कवियों के पास छन्दों, अलंकारों, भावों और विभावों की लगभग एक सी पूंजी है, जिसका अपनी-अपनी रुचि, सामर्थ्य और उमंग की प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने उपयोग किया है। उनमें नये सम्बन्धों की खोज की अपेक्षा परम्परागत सम्बन्धों को ही नया रूप और आकार देने की प्रवृत्ति अधिक है। अतः वस्तु-पक्ष के अन्तर्गत जहां वे आलम्बन और उद्दीपन विभावों की एक सीमित परिधि से बाहर नहीं जा पाए, वहां भाव-पक्ष के अन्तर्गत भी इनमें से कोई कवि पुनरावृत्ति के दोष से नहीं बच पाया। कहीं यह पुनरावृत्ति दूसरों की है और कहीं अपनी ही। विद्यापति में जयदेव की पुनरावृत्ति के उदाहरण ढूंढे जा सकते हैं तो सूर में विद्यापति की पुनरावृत्ति के। तुलसी की वस्तु और भावना की विस्तृति में बहुत कुछ ऐसा है जिसे वाल्मीकि और अध्यात्मरामायण की पुनरावृत्ति कहा जा सकता है। बिहारी के काव्य में कितनी पुनरावृत्ति है इसका पता पद्मसिंह शर्मा की सतसई की भूमिका से चल सकता है। यह इन सब कवियों की मौलिकता पर आक्षेप नहीं है। निःसन्देह इन सबकी मौलिकता का एक निश्चित क्षेत्र है और बहुत जगह इनके व्यक्तित्व के स्पर्श से पुनरावृत्ति भी पुनरावृत्ति नहीं रही। परन्तु यहां अभिप्राय यह है कि इन सब कवियों के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एक निश्चित परिधि के अन्तर्गत हुई है और उस परिधि की सामान्यता आदि काल से रीति

से नहीं हुआ। कबीर की आक्षेपात्मक उक्तियों और सूर के वात्सल्य-वर्णन को छोड़कर अपने निरीक्षण को काव्यबद्ध करने के प्रयोग नहीं के बराबर ही हुए हैं। संस्कृत कवियों के द्वारा जिस काव्य-प्रासाद की रचना हुई थी इन कवियों ने अपने उपादानों से उसीका रूपान्तरण किया सर्वथा नई भूमि की खोज या सर्वथा नये निर्माण का आग्रह इनमें नहीं रहा।

हिन्दी काव्य की इस परम्परा को निश्चित प्रौढ़ता भक्तिकाल में आकर ही प्राप्त हुई, यह असन्दिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है। परवर्ती काल में एक मोड़ लेने के बाद इस परम्परा का धीरे-धीरे ह्रास हो गया। मुक्तक के क्षेत्र में इस परम्परा का चरम विकास विद्यापति कबीर और सूर के हाथों हुआ और प्रबन्ध के क्षेत्र में तुलसी के हाथों। यद्यपि मुक्तक के क्षेत्र में भी तुलसी की देन कम महत्त्वपूर्ण नहीं है फिर भी उस विधा की सम्भावनाओं पर उन्होंने अपने को उस तरह केन्द्रित नहीं किया जैसे पूर्वोक्त कवियों ने। मुक्तक-परम्परा का एक विशेष दिशा में परिमार्जन बिहारी ने भी किया परन्तु केवल शब्द-शोध और शब्द-शक्तियों के विस्तार को ही काव्य की कसौटी नहीं माना जा सकता। बिहारी के काव्य में निजी भावना का वह परिस्पन्दन नहीं है जो काव्य की आत्मा है। बिहारी के काव्य में अभिव्यक्ति की ही प्रमुखता है और मात्र अभिव्यक्ति काव्य के उत्कर्ष को प्रमाणित नहीं करती।

प्रबन्ध और मुक्तक के भेद के कारण भक्त कवियों की रचनाओं में कोई आधारभूत अन्तर उपस्थित हुआ हो ऐसा नहीं। विद्यापति और सूर की रचनाओं में प्रबन्ध-काव्य न होते हुए भी कथा-तत्त्व विद्यमान है, और इसीलिए पदों के संकलन में एक निश्चित अन्विति है। केवल कबीर के काव्य में ऐसा नहीं है। फिर दोनों क्षेत्रों के अन्तर्गत वर्णन-पद्धति और कथोपकथन-पद्धति में इतनी सामान्यता है कि किसी निर्दिष्ट विभाजक रेखा का अवकाश प्रतीत नहीं होता। विनय अनुराग या औत्सुक्य के प्रसंगों में सब में एक सी मार्मिकता और व्यंजनात्मकता का परिचय मिलता

है। प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत मानव और उसके प्राकृतिक वातावरण के अधिक विशद चित्रण का अवकाश रहते हुए भी ऐसा नहीं हुआ कि इनको यहाँ कोई पृथक या स्वतन्त्र पीठिका प्राप्त हो गई हो। प्राकृतिक वातावरण का उपयोग फिर भी उद्दीपन विभाव के रूप में ही रहा है, जैसा कि परम्परा-सिद्ध था और मानव की अवतारणा अतिमानव या अतिमानवीय प्रतीक की प्रतिष्ठा के लिए उपकरण के रूप में। निर्वैयक्तिक दृष्टि से मानवीय चरित्रों की स्थापना लगभग नहीं ही हुई। मानस में मन्थरा जैसे चरित्र का अंकन अपवाद के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। भावना के आधार-बिन्दु भिन्न होते हुए भी इन सभी भक्त कवियों की अनुभूति और अभिव्यक्ति की प्रक्रियाएं लगभग समान रही हैं। इसलिए विधा के भेद को मूल्यगत भेद नहीं माना जा सकता और न ही उसे निर्णय का आधार बनाया जा सकता है।

भक्ति-काव्य में आकर उपर्युक्त परम्परा को चरम विकास प्राप्त हुआ। इसका कारण यह था कि तब तक के प्रयोगों ने इस परम्परा का परिमार्जन करके भक्त कवियों के लिए अपेक्षित भूमि प्रस्तुत कर दी थी और भक्त कवियों ने इस भूमि को केवल रूढ़ि के रूप में ही नहीं ग्रहण किया अपितु अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह उसमें समाहित कर दिया। व्यक्तित्व और कृतित्व में जैसा सामंजस्य इन भक्त कवियों की रचनाओं में दिखाई देता है वैसा उनसे पूर्ववर्ती या परवर्ती कवियों की रचनाओं में दिखाई नहीं देता। कबीर, जायसी, सूर और तुलसी का दैनंदिन व्यावहारिक जीवन उनके मानसिक जीवन से भिन्न नहीं था और उनका काव्य उनके मनालोक का ही सच्चा प्रतिबिम्ब है। जिन भावनाओं को उनकी रचनाओं में अभिव्यक्ति प्राप्त होती थी वे भावनाएं उनके सब जीवन-व्यापारों तथा क्रिया-कलापों को भी व्याप्त किए थीं। उनके मानव धर्म और कविधर्म के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं थी। मानव के रूप में किए जाने वाले उनके हर कर्म में उसी भावना की व्याप्ति थी और उनके सब सम्बन्धों का निर्धारण भी भावना की कसौटी से ही होता था।

भौतिक उपलब्धियों की दृष्टि से वे सब आत्मनिरपेक्ष व्यक्ति थे इसलिए भावना को उनकी पूरी आत्मशक्ति प्राप्त थी। इसीलिए उनकी रचनाओं में वह निश्छलता सहजता और प्रामाणिकता है जो उनके उत्कर्ष का प्रमाण है। इसके विपरीत रीतिकाल और उससे आगे के कवि न्यूनाधिक मात्रा में कविता प्रार्थी अवश्य रहे, और जहां यह प्रार्थित्व हो वहां व्यक्तित्व और कृतित्व में अनिवार्य रूप से एक विभाजक रेखा खिंच जाती है। राज्याश्रित कवियों का कृतित्व आश्रयदाताओं के प्रसादन के निमित्त था इसलिए उसमें वैसी निश्छलता सहजता और प्रामाणिकता का अवकाश ही क्योंकर हो सकता था ? भावाभिव्यक्ति की अपेक्षा जब द्रव्य या प्रशंसा के रूप में प्राप्त होने वाला रचना का प्रतिपादन अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है तो रचना के आन्तरिक गुण का ह्रास स्वतः सिद्ध है। जब रचना किसी भी रूप में व्यवसाय-बुद्धि से अनुप्राणित होती है तो उसमें रचयिता की अपेक्षा उनका व्यक्तित्व प्रतिफलित होने लगता है जिनका उसे प्रसादन करना होता है।

भक्त कवियों के सामने रचना का एक ही उद्देश्य था—निजी भावना की अभिव्यक्ति। उनकी भावना में जो व्यापकता और गहराई थी शब्द उसके वहन के लिए साधन मात्र थे। इसलिए वे शब्दों की स्वाभाविक सामर्थ्य ध्वनि और व्यंजना के माध्यम से गूढ़ से गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति में सफल हो सके। हर शब्द का इतिहास उसके अर्थ की सामर्थ्य को निश्चित करता है। वह अपनी सामर्थ्य की सीमा में सूक्ष्म से सूक्ष्म की अभिव्यक्ति करता है और बड़ी से बड़ी बात भी कह देता है। शब्द की यह सामर्थ्य कृत्रिम जोड़-तोड़ से नष्ट हो जाती है। यमक और अनुप्रास आदि अलंकार शब्द की उस आन्तरिक सामर्थ्य को दबा देते हैं। भक्त कवियों ने अधिकांशतः शब्दों की आन्तरिक सामर्थ्य के अनुसार ही उनका प्रयोग किया है यह उनकी रचना की बहुत बड़ी विशेषता है। कबीर की उलटबांसियां और सूर के दृष्टकूटों की बात अलग है। उन्हें काव्य न कहकर प्रहेलिका ही कहना चाहिए। अन्यथा इन

कवियों की भावना में जो गहनता है वही इनके शब्दों में भी है। भावना जितने सूक्ष्म तन्तुओं में प्रवाहित होती जाती है शब्द उतने ही सूक्ष्म तन्तुओं में उस समेट लेते हैं। पाठक और श्रोता पर इसमें सीधा और गहरा प्रभाव पड़ता है। जब तक अनुभूति और अभिव्यक्ति में ऐसा सन्तुलन न हो तब तक रचना के सम्प्रेषण में स्वाभाविकता और निश्चितता नहीं आती। अभिव्यक्ति का वास्तविक सौन्दर्य है भावना के लिए उसकी अनुकूलता और उसकी शक्ति सम्प्रेषण की तीव्रता। इसलिए भी समर्थ अभिव्यक्ति के लिए आन्तरिक भावना की पूर्वपेक्षा है। वस्तुत: भावना ही अभिव्यक्ति की सामर्थ्य का उद्बोध करती है, उसकी सम्भावनाओं को विकसित करती है। भावनाविहीन अभिव्यक्ति का सौन्दर्य जड़ सौन्दर्य है जो अपने वैचित्र्य से गुदगुदा अवश्य देता है मन प्राण को पुलकित नहीं करता। समर्थ कवि अपनी भावना के लिए समर्थ अभिव्यक्ति पा लेता है कई बार असमर्थ शब्दों को झटककर समर्थ बना देता है। अभिव्यक्ति की सामर्थ्य भावना की हर तरह को समेट ले इसका आदर्श उदाहरण सूर का काव्य है। भावना शब्दों में नई सामर्थ्य का संचार कर दे इसका उदाहरण कबीर की रचना है। दोनों ही स्थितियों में अनुभूति और अभिव्यक्ति का सन्तुलन बना रहा है। परवर्ती रीति काव्य में यह सन्तुलन लुप्त हो गया। सूर की इन पंक्तियों में तो विभोर कर देने की क्षमता है—

> मधुकर स्याम हमारे चोर।
> मन हरि लीन्हों माधुरि मूरति चितै नयन की कोर॥

वही कबीर की इन पंक्तियों में भी है

> सतगुर है रंगरेज चुनर मेरी रंग डारी।
> स्याही रंग छुड़ाय क रे दियो मजीठा रंग।
> धोये से छूटे नहिं रे दिन दिन होत सुरंग॥

परन्तु इन पंक्तियों में वह नहीं

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रंग, त्यों-त्यों उज्जल होय॥

बिहारी की पंक्तियों से केवल एक बौद्धिक चमत्कार की सृष्टि होती है रस की नहीं।

इस काव्य-परम्परा के अन्तर्गत भक्ति-काव्य के सापेक्षिक महत्त्व को जान लेने के अनन्तर, भक्त कवियों के कृतित्व के सापेक्षिक मूल्यांकन का प्रश्न सामने आता है। सामान्य भूमि और सामान्य शिल्प के रहते हुए भी इनमें से प्रत्येक के व्यक्तित्व में ऐसी विशेषता है जो उसे दूसरों से पृथक कर देती है। विद्यापति (उन्हें भक्त कवि न माना जाए, तो भी परम्परा के अन्तर्गत अध्ययन करते हुए उनका उल्लेख असन्दर्भयुत नहीं) के काव्य में जो ऐन्द्रिय आवेग है और ध्वनि और लय के साथ भावना का जो संयोग है वह अन्य किसी कवि की रचना में नहीं है। ध्वनि और लय की सामर्थ्य का परिचय पाने के लिए विद्यापति की कोई भी पंक्तियाँ उठाई जा सकती हैं—

कर धर कर मोहे पारे।
देब मैं अपरुब हारे कन्हैया॥
सखि सब तेजि चली गेली।
न जानू कौन पथ भेली कन्हैया॥
हम न जाएब तुअ पासे।
जाएब औघट घाटे कन्हैया॥
विद्यापति एहो भाने।
गुजरि भज भगवाने कन्हैया॥

शब्द जिस चित्र की रचना करते हैं, लय उसमें प्राण फूंक देती है और भावना सजीव होकर सामने आ जाती है। इस लयात्मकता ने विद्यापति के काव्य में अद्भुत सूक्ष्म स्पन्दिता भर दी है जो हृदय के कोमल से कोमल तन्तुओं को छेर देती है।

कबीर की जो विशेषता उन्हें अन्य कवियों से पृथक करती है वह है उनके काव्य की आक्रमता। जहाँ विद्यापति के पद कोमल संगनियों की तरह स्नायुओं को सहलाकर पुलकित कर देते हैं वहाँ कबीर की पंक्तियाँ हृदय पर सीधी चोट करके उसे जगा देती हैं—

दिन भर रोजा रहत हैं राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी कैसी खुशी खुदाय॥

कबीर जिनके लिए रचना करते थे सीधे उनसे व्यवहार भी करते थे इसलिए उनकी रचना में बहुत स्पष्टता तीव्रता और प्रभुलोमता है। सीधे-सादे शब्दों में सीधी दो-टूक बात कह देने का गुण उनके व्यावहारिक जीवन से ही उनके काव्य में अवतरित हुआ है। काव्यगत रूढ़ियों का सबसे अधिक तिरस्कार किसीने किया है तो कबीर ने और इसीसे उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की एक विशेषता स्थापित कर ली है।

जायसी की विशेषता उनका कथाशिल्प है। मसनवियों की शैली और भारतीय महाकाव्य-पद्धति का योग करके उन्होंने जिस विधा का विधान किया उसे बहुत अंश तक तुलसी ने भी अनुकरणीय माना। इस के अतिरिक्त कथान्तर प्रसंगों में से गुजरते हुए भी जायसी अपनी कथा की रोचकता और एकसूत्रता बनाए रखने में समर्थ हुए हैं। इसका एक कारण सम्भवतः यह भी है कि कथा-विधान में मानसकार की अपेक्षा उन्हें अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी क्योंकि उनके सामने कथा की पहले से निर्दिष्ट सीमाएं नहीं थीं। दूसरे तुलसी ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन और जीवन के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए कथा के अन्तर्गत जैसे अवकाश ले लिए हैं वैसे अवकाश उन्होंने नहीं लिए। कथा को ही अपना प्रतीक मानते हुए उन्होंने कथा के निश्चित प्रवाह को बनाए रखा है। उसी प्रवाह में यथावसर कई तरह के वर्णनों और भावपूर्ण स्थलों की योजना हो गई है। भावना की अभिव्यक्ति कई जगह बहुत सुन्दर है—

सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियरि भूमि कुसुंभी चोला॥
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। बिरह झुलाइ देइ झकझोरा॥

बाट अगुम अथाह गंभीरी । जिउ बाउर ना फिरै गंभीरी ॥
जग जस बूड़ जहाँ लगि ताकी । मोरि नाव खेवक बिनु थाकी ॥
परवत समुद अगम बिच बीहड़ घन बन ढाँख ।
किमि कै भेंटौं कंत तुम्ह ना मोहि पाँव न पाँख ॥

सूर की विशेषता उनकी तन्मयता है। उन्होंने जैसे अपनी भावना और अपने चरित्रों में अपने को पूरी तरह खो दिया है। उन्हें अपने व्यक्तित्व का कुछ बोध है तो बस 'द्विविध चाकरे' और 'बिना मोल के चेरे' के रूप में ही। अन्यथा नन्द-यशोदा और गोप-गोपिकाओं से स्वतन्त्र उनका जैसे अस्तित्व ही नहीं रहा। सूर-काव्य का अध्ययन करते हुए लगता है कि सूर-काव्य एक व्यक्ति का बोधक न होकर एक भावना का बोधक है। सूर स्वयं कृष्णमय हैं इसलिए कृष्ण के साथ उनका सखा का सम्बन्ध ही नहीं रहा माता और प्रेयसी का सम्बन्ध भी रहा है। कृष्ण के विरह में यशोदा और गोपिकाओं की वेदना को जैसे उन्होंने स्वयं अनुभव किया है। यशोदा के इस उन्माद में सूर का ही हृदय मुखरित हुआ है—

सरह्यौ तेरो नन्द हियौ ।
मोहन सो सुत छाँड़ि मधुपुरी गोकुल आनि जियौ ॥

और गोपिकाओं की ऐसी-ऐसी उक्तियों में भी—

ऊधो मन माने की बात ।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृतफल बिषकीरा बिष खात ॥

यों तो समूचे भक्ति-काव्य की रचना आन्तरिक भावना से हुई है, पर सूर में यह आन्तरिकता पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। वे उठते-बैठते सोते जागते जैसे भावना में ही जीते हैं। भावना के आस्वादन में और सब कुछ खो गया है। गोपिकाओं की यह उक्ति जैसे उनके जीवन का भी मूल-मन्त्र बन गई है—

हम तो नन्द घोष के बासी ।
नाम गोपाल जाति कुल गोपहि गोप गोपाल उपासी ॥

इसी तरह तुलसी की मुख्य विशेषता है उनकी चिन्तनशीलता। तुलसी ने जीवन और जगत् के सम्बन्ध में बहुत कुछ जाना-समझा था। उनका शास्त्रीय अध्ययन भी विशद था और समकालीन परिस्थितियों के सम्बन्ध में भी वे बहुत सचेत थे। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण काव्यशक्ति जीवन के स्वरूप का परिष्कार करने की ओर निर्वाहित कर दी थी। जीवन के नव निर्माण के सम्बन्ध में उनकी व्याकुलता ने ही उन्हें जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन करने और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले तत्त्वों के समाहार की ओर प्रवृत्त किया। उन्होंने शास्त्र को पुस्तक के पन्नों से निकालकर जीवन में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। इसीलिए तुलसी का समूचा इतिहास साथ में एक जीवन-दर्शन भी है। उस जीवन दर्शन की सार्थकता अलग से विचार करने का विषय है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी की भावना उनके चिन्तन के साथ समन्वित होकर चली और पाखण्ड प्रपंच तथा विषय-वासनाओं के जिस कीचड़ में समाज लथपथ था उसे अपनी वाणी की धारा से उन्होंने प्रक्षालित कर देना चाहा—

मयन मलिन परनारि निरखि मन मलीन विषय संग लागे।
हृदय मलिन बासना मानमद जीव सहज सुख त्यागे॥
पर निन्दा सुनि श्रवन मलिन भए बचन दोष पर गाये।
सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसराये॥
तुलसिदास व्रत दान ग्यान तप सुद्धि हेतु स्रुति गावे।
रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अतिनास न पावे॥

अब तक सकेत-रूप में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि जिन कवियों की रचना से भक्ति-काव्य की समृद्धि का निर्माण हुआ है वे सब कहीं न कहीं दूसरों से विशिष्ट हैं। इसलिए यदि हम किसी एक कवि के रचना-सौष्ठव का परिचय देते हुए, अथवा उसकी देन के महत्त्व की स्थापना करते हुए, उसके आपेक्षिक मूल्य का निर्धारण करते हैं तो यह प्रयत्न एकांगी होगा। 'सूर सूर तुलसी ससी' जैसी उक्तियों में जहां

विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक दृष्टि का स्पर्श नहीं है वहां मित्र-बन्धुओं की सी इन उद्घोषणाओं में भी नहीं कि 'हमारी स्वल्प बुद्धि के अनुसार महात्मा तुलसीदास के बढ़कर कोई कवि हमारी जानकारी में कभी किसी भी भाषा में संसार भर में कहीं नहीं हुआ। इस प्रसंग में उन की जानकारी निस्संदेह बहुत सीमित है उसके निष्कर्ष को सामने रखते हुए नहीं उस निष्कर्ष तक पहुंचने की प्रक्रिया को सामने रखते हुए, क्योंकि अपने अध्ययन में उन्होंने संसार की किसी भी भाषा के किसी भी अन्य कवि के सम्बन्ध में ऐसा प्रकाश नहीं डाला है जिससे उनके मन्तव्य की पुष्टि हो सके। इस तरह की उद्घोषणाओं से पर्याप्त आधार न होने के कारण निःसन्देह किसी कवि का मान बढ़ता नहीं है।

यहां यह स्पष्ट कर देना भी उचित प्रतीत होता है कि किसी एक रचना का व्यापक प्रचार और प्रसार भी इस बात का प्रमाण नहीं है कि काव्य की दृष्टि से उस रचना का उतना ही व्यापक मूल्य है। कई बार ऐसा होता है कि विशिष्ट काव्यगत मूल्य के न रहते हुए भी किसी रचना को एक जाति या सम्प्रदाय के जीवन में विशिष्ट स्थान प्राप्त हो जाता है। इसके मूल में कई तरह के कारण निहित रहते हैं। कुछ ग्रन्थ साधारण कोटि के काव्य होते हुए भी कुछ सम्प्रदायों के धर्म-ग्रन्थ या पुण्यग्रन्थ बन गए हैं। उन सम्प्रदायों के अन्तर्गत उन ग्रन्थों का अध्ययन रसास्वादन के लिए या मनन-चिन्तन के लिए न होकर एक विशिष्ट धार्मिक उपलब्धि के लिए ही होता है। काव्य के रूप में उन ग्रन्थों का सही मूल्यांकन कई बार साम्प्रदायिकों के आक्रोश का विषय बन जाता है। एक बहुत बड़े वर्ग में मानस का अध्ययन भी इसी रूप में होता है। राम नवमी से पहले कई घरों में मानस का अखण्ड पाठ रखा जाता है। एक के बाद एक व्यक्ति दोहे-चौपाइयों का उच्चारण किए जाता है। इनमें किसी व्यक्ति को तुलसी के भाव-सौंदर्य का बोध होता होगा या कोई तुलसी की सामाजिक दृष्टि को समझ पाता होगा इसमें सन्देह है। अतः इस तरह के अध्ययन को काव्य की लोकप्रियता का तर्क मानना व्यर्थ

गत होगा। रामचरितमानस के महत्त्व की स्थापना के लिए ऐसा तर्क देना तो वास्तव में उस ग्रन्थ के महत्त्व को कम करना है। इसी तर्क पद्धति का अनुसरण करते हुए कोई यह भी कह सकता है कि उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति का जितना व्यापक प्रचार है उतना राम-भक्ति का नहीं इसलिए कृष्ण भक्ति काव्य का महत्त्व अपेक्षया अधिक है। यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इस तरह की तर्क-पद्धति किसी भी काव्य के मूल्यांकन में सहायक नहीं हो सकती। जातीय जीवन में किसी रचना को प्राप्त हुई विशेषता भी अपने में किसी निष्कर्ष की ओर संकेत नहीं करती। हर समय के जातीय संस्कार उस रचना को अधिक मान्यता देते या उसका पोषण करते हैं उस रचना को नहीं जो उन पर चोट करती है। इसलिए कबीर की जीवन-दृष्टि की अपेक्षा तुलसी की जीवन-दृष्टि को जातीय संस्कारों में अधिक मान्यता मिली इससे भी दोनों के आपेक्षिक काव्य मूल्य का निर्णय नहीं हो जाता। मार्ग या दृष्टि के भेद का भावना की गहराई पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आन्तरिक विश्वास होने पर आस्तिक और नास्तिक की भावना में एक-सी गहराई हो सकती है। तुलसी और कबीर के विश्वास एक दूसरे से टकराते थे पर दोनों की भावना की गहराई असन्दिग्ध है। विश्वास के क्षेत्र में तुलसी की एक दृष्टि है—

> श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
> तेहि परिहरहिं बिमोहबस कल्पहिं पंथ अनेक॥
> साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
> भगत निरूपहिं भगति कलि निंदहिं बेद पुरान॥

तो कबीर की दृष्टि दूसरी है—

> जप तप पूजा अरचा जोतिग जग बौराना।
> कागद लिखि लिखि जगत भुलाना मन ही मन न समाना॥

परन्तु भावना का आग्रह दोनों में एक सा है—

> जाके प्रिय न राम बैदेही।
> तजिये सो नर कोटि बैरि सम जद्यपि परम सनेही॥

एवं

> प्रीतम को पतियाँ लिखूँ जो कहुँ होय विदेश।
> तन में मन में नयन में ता को कहा संदेश॥

प्रत्येक कवि का प्रकोष्ठ-गत अध्ययन होने के कारण आपेक्षिक मूल्य के प्रश्न को अब तक बहुत गम्भीरतापूर्वक नहीं उठाया जा सका है, फिर भी व्यापक दृष्टि से विचार करते हुए अनायास इस बात की ओर ध्यान जाता है कि जिस तरह एक काव्य-परम्परा का चरम विकास भक्ति-काव्य में आकर हुआ उसी तरह भक्ति-काव्य की प्रायः सभी विशेषताओं का प्रतिबिम्बित तुलसी के काव्य में हुआ है। काव्य के सामूहिक प्रभाव को दृष्टि में रखें तो अन्य कवियों की रचनाओं में जहाँ किसी एक या दूसरी विशेषता का परिपाक हुआ है वहाँ तुलसी के काव्य में अनुभूति और अभिव्यक्ति की वे सभी विशेषताएँ समाहित हैं जिनसे भक्ति-काव्य के महत्त्व का निर्धारण हुआ है। एक-एक क्षेत्र में दूसरों की रचनाओं का मूल्य अधिक हो सकता है परन्तु अन्य किसी कवि का कृतित्व अपने में उस सारी काव्य-परम्परा का प्रतिनिधित्व नहीं करता जिसका इतिहास तुलसी से पाँच सौ वर्ष पहले आरम्भ होता है और अढ़ाई सौ वर्ष बाद तक चलता है। यह विशेषता इतने में ही नहीं कि उन्होंने सभी प्रचलित काव्य-शैलियों में रचना की है अपितु उससे कहीं अधिक इस बात में है कि उनकी रचना में भावना, बुद्धि और कल्पना का जो सामंजस्य है और उनकी अभिव्यक्ति में जो अनुरूपता है वह इस समन्वित रूप में अन्य किसी कवि की रचना में दिखाई नहीं देती।

विद्यापति और सूर का काव्य अनुभूति-प्रधान है परन्तु उनमें चिन्तनशीलता और लोकादर्श की भावना नहीं है। सूर की अनुभूति में बहुत विविधता और व्यापकता है क्योंकि अनुभूति की व्यापकता का

सम्बन्ध उन विषयों की विविधता के साथ नहीं है जिनके आश्रय में अनुभूति जन्म लेती है। अनुभूति की व्यापकता का अर्थ है उसका किसी भी क्षेत्र को उसकी सम्पूर्णता में व्याप्त कर लेना। सूर के सम्बन्ध में यह स्वीकार किया जाता है कि वात्सल्य और अनुराग के क्षेत्र में प्रायः सभी स्थितियों को उनकी लेखनी ने छुआ है। विद्यापति ने भी अनुराग के क्षेत्र में प्रायः सभी प्रसंगों की झाँकी प्रस्तुत की है। अभिव्यंजनागत सौंदर्य की दृष्टि से भी इन दोनों की रचनाओं का बहुत मूल्य है। कोमल शैली के आश्रय से उन्होंने सुन्दर बिम्ब-विधान किया है जो बहुत व्यंजनात्मक और हृदयग्राही है—

सघन घरस जनु अम्बर रे
देखल अनि देह।
नव जलधर तर संचर रे
जनि बिजुरी-रेह॥

इन पंक्तियों की-सी चित्रात्मकता किसी भी भाषा के काव्य को गौरव प्रदान कर सकती है। परन्तु जिस परम्परा के अन्तर्गत इस काव्य की रचना हुई है यह उसकी एक विशेषता है। सौन्दर्यानुभूति के अतिरिक्त उस परम्परा की जो बड़ी विशेषता रही है वह है लोक-कल्याण की भावना। यह भावना सिद्ध-साहित्य और वीर-काव्य से होती हुई इस काल तक आई थी। वस्तुतः लोक धर्म की भावना को लेकर ही भाषा काव्य का उदय हुआ था और लोकहित के साथ कवि-वाणी का अनिवार्य सम्बन्ध माना जा रहा था। विद्यापति और सूर के काव्य में यह पक्ष विकसित नहीं हुआ है। अतः परम्परा के अन्तर्गत अपना विशिष्ट स्थान रखते हुए भी इनका कृतित्व उस परम्परा का पूरा प्रतिनिधित्व *नहीं* करता।

इसके विपरीत कबीर के काव्य में लोक-धर्म की स्थापना है बल्कि यह कहा जा सकता है कि लोक-कल्याण के आग्रह में ही उनकी वाणी में इतनी अर्थस्विता आ गई है। कबीर की आध्यात्मिक

स्वीकृति के मूल में भी लोक-कल्याण की भावना काम करती है। वैयक्तिक उपलब्धि का आग्रह उनमें नहीं था। आसपास के जीवन की विडम्बनाओं ने ही उनकी वाणी में कटुता और तीखापन ला दी थी। कबीर के काव्य का स्वीकृति-पक्ष अर्थात् प्रेम-पक्ष बहुत सबल है परन्तु उनके काव्य का वह पक्ष अधिक हृदयग्राही बन पाया है जहां उन्होंने एक समाजचेता के रूप में सामाजिक विसंगतियों की भर्त्सना की है। समाज के नये रूप-विधान के सम्बन्ध में तुलसी और कबीर की दृष्टि में मौलिक अन्तर रहा है यहां तक कि कई स्थलों पर वे एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं। परन्तु दृष्टि का भेद होते हुए भी दोनों एक ही चेतना से अनुप्राणित थे। परन्तु तुलसी ने जैसे सौन्दर्यानुभूति को बनाए रखते हुए इस चेतना को आत्मसात् किया वैसे कबीर नहीं कर पाए। संभवतः इसका कारण यह था कि तुलसी विधिवत् काव्य-परम्परा में दीक्षित हुए थे जब कि कबीर ने अपने को दीक्षा स्वयं ही दी थी। इसलिए उन्होंने परम्परागत काव्य-मूल्यों को महत्त्व नहीं दिया और आवश्यकता के अनुसार शब्द और छन्द की मर्यादाओं का भी तिरस्कार कर दिया। कबीर के लिए उनके प्रतिपाद्य का ही महत्त्व था जिस विधि से प्रतिपादन होता है इसका नहीं। अभिव्यक्ति के प्रति उदासीनता से जहां उनकी रचना में सहजता और शक्ति आ गई, वहां बहुत जगह उनके सौन्दर्य-पक्ष की क्षति भी हुई। कई जगह उन्होंने ऐसे बिम्बों का विधान किया है जो सौन्दर्य-सृष्टि को ठेस पहुंचाते हैं।

इस तरह कबीर के काव्य में वह सन्तुलन स्थापित नहीं हो पाया जो तुलसी के काव्य में है। कबीर की योगमार्गी साधना-पद्धति की स्वीकृति का भी उनके काव्य के सौन्दर्य-पक्ष पर प्रभाव पड़ा है। इसने कई जगह उनके काव्य को व्याख्यात्मक बनाकर उसकी रसात्मकता को अवरुद्ध कर दिया है। कबीर के काव्य में और उनके अतिरिक्त सूर के काव्य में भी बहुत से ऐसे अंश हैं जिनमें केवल पारिभाषिक शब्दों या नामावलियों का वर्णन मात्र किया गया है। काव्य की दृष्टि से उनका

कोई महत्त्व नहीं है। इस तरह के प्रसंगों को निकाल देने से उनके काव्य का विस्तार बहुत सीमित रह जाता है और उनके अन्तर्गत भी बहुत पुनरावृत्ति है। इसके विपरीत तुलसी के काव्य में विविध वर्णनों व्याख्यानों तथा कथा-प्रसंगों के बीच भी भावना का अखण्ड प्रवाह बना रहा है। उनके काव्य में कवित्व के साथ-साथ उनके पाण्डित्य धार्मिक चिन्तन और व्यवस्था-विधान का ऐसा मेल है कि कहीं रसास्वादन में बाधा नहीं पड़ती। यह नहीं कि तुलसी का काव्य नामावलियों के संकलन या पुनरावृत्ति के दोष से सर्वथा मुक्त है। परन्तु तुलसी के काव्य के विस्तार को देखते हुए, ऐसे स्थल बहुत थोड़े हैं और इसलिए नगण्य प्रतीत होते हैं। मानस जैसे महाकाव्य के अन्तर्गत तो उनसे वैसे भी प्रवाह में बाधा नहीं पड़ती क्योंकि महाकाव्य का शिल्प ही उनके लिए अवकाश प्रस्तुत कर देता है।

इस तरह अन्य कवियों की रचनाओं में जहाँ उस विशिष्ट काव्य-परंपरा का आंशिक विकास दृष्टिगत होता है तुलसी के काव्य में उसकी सर्वांगीण समृद्धि का परिचय पाया जा सकता है। जहाँ अन्य कवियों की रचनाएँ सामूहिक रूप से उस परम्परा की चरम उपलब्धियों का प्रतिनिधित्व करती हैं वहाँ तुलसी का काव्य उस परम्परा का प्रतिनिधित्व करने की दृष्टि से अपने में पूर्ण है। यही नहीं यदि तुलसी के मानस की रचना न हुई होती और कृष्ण-भक्ति-काव्य की रीति-काव्य में यही स्वाभाविक परिणति होती तो प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा अभाव बना रहता। पदमावत में कथा-निर्वाह की विशेषता अवश्य है परन्तु उसमें मानस जैसी व्यापक दृष्टि और जीवन की सूझ-बूझ नहीं है। पदमावत प्रेम-काव्य है, और प्रेम जीवन का एक पक्ष है। जायसी ने प्रेम और युद्ध के प्रसंगों में बहुत विस्तृत और सजीव वर्णन किए हैं और इन दो परिस्थितियों में रत्नसेन पद्मावती नागमती गोरा और बादल आदि चरित्रों की मनोदशाओं का भी तन्मयतापूर्वक चित्रण किया है। परन्तु मानस केवल रघुनाथ-गाथा ही नहीं सारे मानव जीवन का काव्य भी

है। इसके अन्तर्गत जीवन के प्रायः सभी पक्ष आ गए हैं—प्रेम, धर्म, वर्ण-व्यवस्था, राजनीति, अर्थनीति, समाज-विधान, शिक्षा और कला आदि। इसके अतिरिक्त जितनी तरह के मानव-सम्बन्धों की कल्पना हो सकती है उन सब पर मानस में प्रकाश डाला गया है। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य और राजा-प्रजा आदि के सम्बन्धों का विशद विश्लेषण, और इन संबंधों के अन्तर्गत सभी तरह की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों का चित्रण मानस में मिलता है। इसके अतिरिक्त मित्रता और शत्रुता के प्रसंगों में मानसिक प्रतिक्रियाओं, और नीति और अनीति के संघर्ष में कई तरह की अन्तर्दशाओं का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। इस तरह मानस एक महाकाव्य ही नहीं, एक समय का इतिहास, एक जीवन की पूरी व्यवस्था और एक काव्य परम्परा की पूर्णाभिव्यक्ति भी है। मानस के बिना उस परम्परा की उपलब्धियों का मूल्यांकन पूरा नहीं होता। भक्तिकाल के अन्य कवि विशेषतया सूर और कबीर, मानसकार के कुछ अभावों की पूर्ति अवश्य करते हैं—सूर चित्रांकन और भाव-विधान में और कबीर जीवन के प्रगतिशील रूप को समझने में और इस दृष्टि से इस परम्परा के गौरव को प्रतिष्ठित करने में उनकी देन बहुत महत्त्वपूर्ण है। परन्तु व्यापक सन्दर्भ में देखते हुए, और काव्य के सामूहिक प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए, ऐतिहासिक मार्ग में तुलसी की देन निस्सन्देह सबसे महत्त्वपूर्ण है।

इसके अनन्तर परवर्ती काव्य-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में इस काव्य के सापेक्षिक मूल्य का प्रश्न सामने आता है। भारतेन्दु से एक नई परम्परा का आरम्भ होता है जिसने बहुत शीघ्रता से अपने को नये-नये साँचों में ढाला है और वस्तु तथा शिल्प दोनों क्षेत्रों में नये प्रयासों के स्पर्श के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रही है। इस परम्परा में आकर काव्यधारा ने अपने को पहले की काव्य-रूढ़ियों से धीरे-धीरे लगभग सर्वथा मुक्त कर लिया। भारतेन्दु जैसे इन दो परम्पराओं के दोराहे पर खड़े हैं। वे अपने में पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा की रूढ़ियों का अनुसरण करते हुए काव्य के

वस्तु-क्षेत्र को सामान्य जीवन के साथ जोड़ने की ओर प्रवृत्त हुए। उन्होंने अपने काव्य मे तात्कालिक जीवन की समस्याओं का चित्रण करके भविष्य के लिए नई दिशा मे पहले पथ-चिह्न बना दिए। रूढ़ि से प्रभाव ग्रहण करने में भी उन्होंने रीतिकाल की दरबारी प्रवृत्ति का तिरस्कार कर, सीधे भक्त कवियों से ही प्रेरणा प्राप्त की। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी उनपर भक्तिकालीन रूढ़ियो का ही अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु ने एक ओर तुलसी की लोकमगल की भावना को फिर से काव्य मे प्रतिष्ठित किया और दूसरी ओर असाधारण के मोह से मुक्त होकर काव्य को साधारण की अभिव्यक्ति का साधन बनाया। विश्व-साहित्य म साधारण जीवन की अवतारणा बहुत पहले से होने लगी थी और यथार्थ चित्रण की परम्परा उस समय तक बहुत विकास कर चुकी थी। भारतेन्दु और उनके सहयोगियो ने साधारण के प्रति आन्तरिक आग्रह का परिचय तो दिया परन्तु निश्चित परम्परा न होने के कारण उनकी रचनाओं म उस काल के यथार्थ का सही प्रतिनिधित्व नहीं हुआ। स्फुट रूप से की गई कुछ भावाभिव्यक्तियां ही उस काल की यथार्थ चेतना का प्रतिनिधित्व करती हैं। उस प्रारम्भिक काल मे इससे अधिक की आशा भी नहीं की जा सकती थी। उस काल की रचनाओं में साधारण के प्रति सचेतन सीमता तो है पर कोई ऐसी आन्तरिक भावना नहीं जो काव्य की प्राण शक्ति बन जाती है। द्विवेदी-काल मे सुधारवादी आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप उपदेशात्मकता के बढ जाने से इस परम्परा की भाव-वस्तु और शिल्पगत विशेषताओं का विकास नहीं हो पाया। काव्य-माध्यम के रूप म खड़ी बोली का स्वरूप अभी बना नहीं था निर्माण भाषा की दुर्बलता भी इस काल के काव्य की एक परिसीमा रही।

छायावाद-काल म आकर एक ओर भाषा का निखार हुआ और दूसरी ओर काव्य को कवियो की आन्तरिक अनुभूति का स्पर्श भी प्राप्त हुआ। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग किए गए। परन्तु काव्य म साधारण जन जीवन की व्याप्ति की आशा जो पहले से होने लगी थी

वह इस काम में पूरी नहीं हुई। छायावादी कवियों को साधारण का मोह तो रहा परन्तु मानव और उसके संघर्षशील जीवन से हटकर उनकी प्रवृत्ति मानव को प्राकृतिक परिपार्श्व में देखने की ओर हुई। इससे साधारण की वासना का रूप इस तरह से बदला कि मानव गौण हो गया, प्रकृति मुख्य और प्रकृति में मानवीय चेतना का आरोप कर विषाद संवेदना का परिचय दिया जाने लगा। इन कवियों के हृदय में साधारण के प्रति वासना थी परन्तु साधारण जन-जीवन के साथ इनका वैसा सम्पर्क नहीं था जो इनकी रचनाओं में उसकी अवतारणा की भूमि प्रस्तुत कर सकता। जन जीवन के स्पन्दनों का अनुभव और अंकन करने के लिए नैसर्गिक प्रतिभा और संवेदनशील हृदय की ही नहीं क्रियात्मक रूप से एक विशेष तरह का जीवन जीने की भी आवश्यकता होती है। जीवन के उस स्पन्दन के अभाव को प्रकृति के रंगों रूपों और ध्वनियों के अंकन से पूरा करने का प्रयत्न किया गया। इसे साधारण जीवन से पलायन की प्रवृत्ति न कहकर अपने कवि-कर्तव्य से पलायन की प्रवृत्ति कहा जा सकता है। इन कवियों की निजता शब्दों और छंदों के प्रयोगों में और नये-नये बिम्ब विधान के आग्रह में ही अधिकतर व्यक्त हुई। जहाँ भावना क्षीण हो और अनुभव क्षेत्र सीमित हो वहाँ काव्य में प्रायः इस तरह की प्रयोगशीलता का आग्रह बढ़ने लगता है।

प्रसाद की कामायनी इस काल की प्रतिनिधि रचना मानी जा सकती है क्योंकि उपाख्यानाश्रित होते हुए भी वह साधारण मानव का ही काव्य है। कामायनी का स्वर मानव-कल्याण का स्वर होते हुए भी जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव से उभरा हुआ स्वर नहीं है। प्रसाद के पास जैसी नैसर्गिक प्रतिभा थी और जैसा विशद उनका अध्ययन था उसके साथ यदि जीवन के व्यापक सम्पर्क से बटोरे गए अनुभवों की पूंजी भी होती तो वे सचमुच अपने समय के मानस की रचना कर जाते जिसका आलोचक महत्व संभवतः मानस से अधिक होता। परन्तु कामायनी इस काव्य परम्परा की सर्वोत्तम रचना होते हुए भी युग की सामूहिक चेतना का

प्रतिबिम्बित नहीं करती न ही उसमें मानस जैसी व्यापकता आ पाई है, और न ही उसमें साधारण मानव की सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों का चित्रण हुआ है। इस दिशा में जो उपलब्धि काव्य में नहीं हो सकी वह आंशिक रूप से गद्य में सम्भव हो पाई है।

परवर्ती प्रगतिवादी काव्यधारा के अन्तर्गत साधारण जीवन के व्यापक द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करने के कुछ प्रयत्न हुए परन्तु इनमें से अधिकांश प्रयत्न लेखकों के बौद्धिक आग्रह को ही व्यक्त करते हैं। इनमें साधारण जीवन के प्रति इन कवियों के निजी भावाग्रह का स्पर्श बहुत कम प्रतीत होता है। इसके साथ ही प्रगतिवादी काव्यधारा में बहुत अभिधेयात्मकता आ गई छायावादी काव्य के अन्तर्गत जिस लाक्षणिकता और व्यंजनात्मकता का विकास हुआ था उसे बनाए रखना सम्भव नहीं हुआ और अभिव्यक्ति छायावादी काव्यधारा के मानदण्ड के अनुकूल नहीं बनी रह सकी। अतः इस धारा के अन्तर्गत किसी कवि या कृति को वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकी। जो उसे एक सीमा-चिह्न बना दे। आज की प्रयोगशील या नई कविता में यान्त्रिकता और क्षण-प्रतिक्षण की अनुभूतियों की सच्ची अभिव्यक्ति का आग्रह बल पकड़ रहा है परन्तु इस धारा की अतिशय बौद्धिकता और व्यक्तिनिष्ठता बहुत शीघ्र इसे जीवन के सामूहिक परिस्पन्दन से दूर हटाए दे रही है, और सन्देह है कि इसमें समय की सामूहिक चेतना का सही प्रतिबिम्ब हो पाएगा।

तुलसी का काव्य एक परम्परा के चरम विकास का प्रतिनिधित्व करता है परन्तु आज की काव्यधारा आरम्भ से अब तक प्रयोगों की एक शृंखला है जिसे अभी एक चरम उपलब्धि तक पहुँचना है। तुलसी के काव्य की रचना भी कई सौ वर्षों में हुए प्रयासों की एक लम्बी शृंखला के बाद सम्भव हुई। मूलतः रचना में व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति होती है और किसी महान् कृति की रचना के लिए यह अपेक्षित है कि रचयिता का आचरण उसकी भावना और उसका चिन्तन तीनों समन्वित हों। तुलसी में यह समन्वय है और उनकी रचना में इस समन्वित व्यक्तित्व का सर्वत्र

परिचय मिल जाता है। तुलसी की एक-एक पंक्ति उनके मानसिक और भावात्मक रूप की ही अभिव्यक्ति है। उनके द्वारा किए गए अपने समय के मूल्यांकन या सामाजिक आदर्शों के विधान से हम सहमत न हों यह अलग बात है परन्तु उनके काव्य में व्यक्तित्व और कृतित्व की एकात्मकता स्पष्ट प्रतीत होती है। तुलसी की कामना-अकामना उनका सतोष-असंताप ज्यों का त्यों उनके काव्य में प्रतिफलित है। इसके विपरीत आज के काव्य में अभी तक कहीं ऐसे समन्वित व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं हुई है। अत यह कहा जा सकता है कि तुलसी का काव्य एक परम्परा के चरम विकास का प्रतिनिधित्व ही नहीं करता भावना चिन्तन और वैयक्तिक आचरण के समन्वय से विनिर्मित कवि-व्यक्तित्व की समर्थ अभिव्यक्ति की दृष्टि से आज तक के हिन्दी काव्य में यह सर्वाग्रणी भी है।

० ० ०